

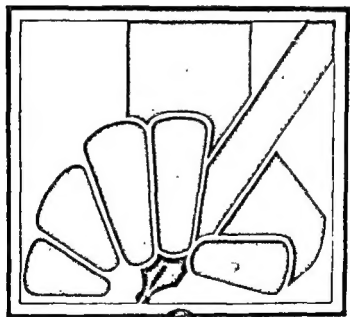


मन ना भये दस-बीस !



मालती जोशी

# मानना भये दस बीस



सरस्वती विहार



मनु को  
जो मेरी कहानियों की  
परम भक्त भी है  
और  
प्रखर आलोचक भी



मनु को  
जो मेरी कहानियों को  
परम भक्त भी है  
और  
प्रखर बालोचक भी





## क्रम

मन ना भये दस-खीस !	६
नैहर छूटो जाय	४५
कन्यादान	५२
घर	६७
उफान	७७
ययार्य से आगे	८८
उसने नहीं कहा	९५
बोर	१०६



## मन ना भये दस-बांस

“पापा, कार्तिकजी आए हैं,” मैंने हाँफते हुए कहा ।

पापा ने उपन्यास से थोड़ा-सा सिर उठाया और कहा, “तो आने दे ना, पूरा इतनी बदहवास क्यों हुई जा रही है ?”

“पापा, वे दीदी को पूछ रहे हैं ।”

“तो बता दे न, कि घर पर नहीं है, रिहसंस पर गई है,” उन्होंने इत्मीनान से कहा ।

सच, पापा तो कभी-कभी...पर मुझे भुनभुनाने का भी अवसर नहीं मिला । कार्तिक भीतर आ गए थे ।

“भे जाई कम इन !” उन्होंने दरवाजे पर खड़े होकर कहा, “पापा-जी, आई थिंक यू वॉंट माईड माइ कर्मिंग इन । मैंने सोचा, अब मुझे इस घर में ड्राइंगरूम से थोड़ा आगे भी प्रवेश मिल जाना चाहिए ।”

“क्यों नहीं, क्यों नहीं बेटे, अब तो यह तुम्हारा अपना ही घर है,” पापा ने अभ्यर्पणा में उछले हुए कहा । पर उनकी आँखों में स्वागत का भाव जरा भी न था । शायद पुस्तक अधवीष में छूट जाने का दुख था । कार्तिक के लिए एक कुर्सी सरकाते हुए बोले, “शिखा बेटे, अपने जीजाजी के लिए कुछ चाय-बाय का इंतजाम करो ।”

मैं जैसे जान छुड़ाकर भागी, सीधे किचन में आकर ही दम लिया । लेकिन फिर लगा कि कुछ देर रुकना चाहिए था वहाँ, पापा का कुछ ठीक नहीं है । कभी-कभी वे बहुत सच बोल आते हैं । दीदी पर बड़ा गुस्सा आ रहा था । इतना मना किया था कि आज रविवार है, वहीं मत जाइए । पर जहाँ भां शापिंग के लिए बाहर निकली, ये भी

घर से भाग लीं। जानती जो हैं कि कुछ हो जाए तो संभालने के लिए शिखा है ही।

राम-राम करके कॉलेज का सिल्वर जुबिली फंक्शन समाप्त हुआ था। उसमें दीदी की 'विरहिणी राधा' खूब हिट हुई थी। उनके ससुराल-वालों ने भी उनके नृत्यकौशल की सराहना की थी। पर वस, उसके बाद मां को धीरे से समझा दिया था कि अब वह किसी समारोह में भाग नहीं लेगी। एक ही शहर का मामला था। इसलिए बहुत चौकन्ना रहना पड़ता है।

दीदी इतना भुनभुनातीं, "उनसे कहिएगा, आपके घर पहुंच जाऊं तब सात तालों में बंद करके रखें। पर अभी से इतनी बंदिश क्यों?"

और बंदिश क्या यही एक थी? सगाई के बाद जैसे प्रतिबंधों का तांता लग गया था। पहनने-ओढ़ने तक की आजादी नहीं रह गई थी। दीदी सचमुच कभी-कभी इतना घबरा जातीं, कहतीं, "कहां के घामड़ लोग पल्ले पड़ गए हैं। क्या दुनिया में मेरे लिए यही एक घर रह गया था?"

मां तब बड़े प्यार से समझातीं, "मन छोटा क्यों करती है पगली! तुझे कौन उनके साथ ज़िंदगी भर रहना है? थोड़े दिनों की तो बात है। तू तो अपने दूल्हे को देख। सात जन्मों तक तपस्या करने के बाद ऐसा वर मिलता है।"

मां के मुंह से तपस्या की बात बड़ी अजीब-सी लगती थी। पर वे झूठ नहीं कहती थीं। लड़का उन्होंने लाखों में एक ढूंढ़ा था। लंबा-ऊंचा कद, सुगठित देह्यष्टि, दमकता गेहूआं रंग, तीखे नाक-नकश। एम० कॉम० फर्स्ट क्लास थे। स्टेट बैंक में ग्रेड टू ऑफिसर थे। शहर में अपना मकान था। पिता रिटायर्ड सेल्स टैक्स कमिश्नर थे। इसलिए उनकी बातचीत में, रख-रखाव में एक आभिजात्य था। और आई० ए० एस० में सिलेक्ट हो जाने के बाद तो उनका पूरा व्यक्तित्व ही गरिमामय हो उठा था।

जिस दिन दीदी का रिश्ता लेकर पहुंचे थे वे लोग, उसी दिन कांपिटिशन की लिस्ट निकली थी। वस उन लोगों ने इसे दीदी का ही

शुभ शकुन मान लिया और बात बड़ी आसानी से पक्की हो गई। एतराज करने का प्रश्न नहीं था। दीदी को बहू बनाने में किसी भी परिवार की गवं का ही अनुभव होता। अपने कॉलेज की 'ब्यूटी क्वीन' समझी जाती थीं। दीदी नृत्य में प्रवीण तो थीं ही, इंग्लिश में एम० ए० भी कर रही थीं। मांग जरूर उन लोगों की कुछ ज्यादा लग रही थी, पर मां कहतीं, "अच्छे लड़के सड़क पर पड़े नहीं मिन जाते। छबं तो करना ही पड़ता है। इतना रूप-गुण लेकर आई है वह, तो क्या किसी बाबू या मास्टर के घर में जाएगी? हीरा, सोने में जड़ा हो, तभी अच्छा लगता है।"

लेकिन मां का 'हीरा' अक्सर उन सुनहले बंधनों से कममसा उठता था। तब मुझे बहुत आश्चर्य होता था। सोचती थी, दीदी एकदम पागल हैं। ऐसे पति के लिए मैं तो जीवन-भर का कारावास स्वीकार कर लूं।

चाप लेकर बाहर गई तब कातिक, पापा से बह रहे थे, "तो पापाजी, अब यह जिम्मेदारी आपकी रही। शहर में हमारे रिश्तेदार भरे पड़े हैं। अगर वे कहीं जाती भी हैं, तो शिखा को या भाई को साथ ले लिया करें। यों अकेले आना-जाना ठीक नहीं लगता।"

"देखो बेटे," पापा ने अपना कप उठाते हुए शांत स्वर में कहा, "इस घर में किसी के, बही आने-जाने पर प्रतिबंध नहीं है। कम-से-कम मेरा तो नहीं है।"

"यह क्या कह रहे हैं आप? आप इस घर के बड़े हैं।"

"हां, बड़ा तो हूं," पापा ने निलिप्त भाव से कहा, "पर इस घर की रीति यही है। तुम्हारे घर आएगी रेखा, तो तुम अपने सांघे में ढाल लेना।"

इतना गुस्सा आया पापा पर। कातिक के जाते ही बरस पड़ी मैं, "आखिर उनके सामने यह सब कहने की क्या जरूरत थी?"

पापा उम्मी शांत स्वर में बोले, "क्या-क्या छिपाएंगे बेटा, और जब तक छिपाएंगे? आखिर एक दिन उन्हें सब जान ही लेना है।" और उन्होंने माइड टेबल पर रखा उपन्यास फिर से उठा लिया और दूसरे-

ो क्षण वे उसमें डूब गए ।

हताश हो अपनी मेज पर आकर बैठ गई मैं । 'फ्रांस की राज्य क्रांति' मेरी प्रतीक्षा कर रही थी । वे ऊटपटांग नाम वैसे ही दिमाग में घंसते नहीं । हेनरी लोगों और लुई लोगों पर तो इतना गुस्सा आता है । क्या इनके माता-पिता को नये नाम ही नहीं सूझते थे ? मुझसे पूछते तो सी बता देती । पर अब तो इन लोगों की कृपा से यूरोपियन हिस्ट्री एक भूल-भुलैया बन गई है । पढ़ते-पढ़ते दिमाग परेशान हो जाता है । 'तिसपर घर का माहौल ऐसा रहता है कि बस'...

मुश्किल से दो पेज पढ़ पाई थी मैं कि आंघी की तरह भाई कमरे में घुस आये, "ए शिखा, तीन-चार गिलास शर्वत तो बना झटपट ।"

मैं मुंह बाये उन्हें देखने लगी तो एकदम फट पड़े, "क्यों, थोवड़ा क्यों लटक गया तुम्हारा ? घर में शर्वत नहीं है या गिलास गायब हैं ?"

"बना तो रही हूं बाबा, आप तो बस एकदम सिर पर सवार हो जाते हैं," पैर पटकती हुई किचन में चली आई । इन लोगों के रहते फस्टे ग्लास तो क्या आएगी, पास भी हो जाऊं तो बहुत है ।

ट्रे में गिलास लगाकर नाश्ते की प्लेटें भी रख दी थीं मैंने । भाई अंदर आए तो चकित रह गए, "इतना शाही संरजाम ! ये मेरे लिए तो हो नहीं सकता । कौन आया था ?"

"कार्तिक आये थे," मैंने सहमते हुए कहा ।

"हूं, उनके लिए तो पलक झपकते ही सारा सामान तैयार हो जाता है, और मेरे दोस्तों के लिए दो गिलास शर्वत बनाते हुए भी लोगों की जान निकल जाती है । रखे रहो—हम गन्ने का रस पी लेंगे । उसी लायक तो हम हैं ।" और वे सचमुच बाहर चले गए ।

हक्की-बक्की-सी मैं ट्रे की तरफ देखती रह गई । अब ये इतना सारा शर्वत ! फ्रिज में रख दूं और मां आकर देख लें तो घंटों चीखती रहेंगी, 'मैं तो खून-पसीना एक करके कमा रही हूं । तुम लोग इसी तरह मुझे तवाह करते रहो ।' पर उठाकर नाली में फेंक देने का भी तो मन नहीं होता ।

, 'पापा, शर्वत लेंगे ?'

“शवंत ? अभी तो चाय ली थी बेटे !”

“अब शवंत से लीजिए ।”

“ले आओ ।”

पापा की आदत इतनी अच्छी है कभी जिरह नहीं करते । चुपचाप पूरा गिलास गटक गए । एक मीने पी लिया । शेष दिल कड़ा करके नाली में उलट दिया ।

बैठे मुझे इतनी चिंता करने की जरूरत नहीं थी । भाई को जरा-सा उलाहना भर दे देती, एक ही सांस में सारे गिलास खाली कर जाते । अजीब-से होते जा रहे हैं भाई आजकल । कब, किस बात का बुरा मान जाएंगे; कब, किस बात पर तूफान मचा देंगे; पता ही नहीं चलता । मां तो अक्सर बाहर रहती हैं । दीदी कभी सामने पड़ती नहीं । बस मैं ही हाथ आती हूँ तो मुझीपर जब-सब बरसते रहते हैं ।

यही भाई कभी-कभी इतने निरीह-से लगते हैं कि प्यार आने लगता है । जीवन में इतनी असफलताओं का मुंह देखा है उन्होंने और उसके लिए मां के इतने ध्यान-वाण भेले हैं कि कभी-कभी डर-सा लगने लगता है कि कुछ कर न बैठें ।

“गिखा !” मां की तीखी आवाज सुनाई दी तो मैंने खिड़की का पर्दा हटाकर देखा, वे सड़क पर खड़ी टैंक्सी का बिल चुका रही हैं ।

बाहर आकर देखा, एक बड़ा-सा खोखा उनके पैरों के पास पड़ा है । “इसे हाथ लगवा तो जरा, खूब भारी हो गया है । मेरे टैंक्सीवाले इतने उद्बुध हो गए हैं आजकल ! तांगे वाला होता तो सीधे अंदर लाकर रखवा देना,” उन्होंने हाफते हुए कहा । बक्सा सचमुच भारी था । फाटक से सीढ़ियों तक आते-आते दम फूल गया ।

“रेखा कहां है ? उसे बुला ले जरा ।”

“दीदी घर में नहीं है ।”

“कहां चली गई है ? उसे इतनी बार मना किया, इतवार को घर पर रहा करे, बेमकूफ है बिल्कुल ।”

मैं चुप हो बनी रही । कहीं मां को पता चला कि कात्तिकजी आकर



लौट गए हैं, तो यहां सड़क पर ही शुरू हो जाएंगी ।

“वे राजकुमार भी घर में नहीं होंगे । तुम्हारे पिताश्री तो हैं । उन्हीं-को बुला लो ।”

मैं पापा को बुला लाई । हम दोनों ने बड़ी मुश्किल से वह खोखा उठाकर भीतर रखा । मां तब तक पंखे के नीचे बैठकर पसीना सुखाती रहीं ।

चाय पीते हुए मां ने फिर पूछा, “रेखा कहां है ?”

मैंने बात बदलते हुए कहा, “इतना सारा क्या लाई हैं, दिखाइए तो !”

“डिनर सेट है, स्टील का । ज़िंदगी भर को फुसंत हो जाएगी । चीनीवाले में तो बड़ा रिस्क रहता है । एक पीस टूटा कि सेट बर्बाद हो गया ।” मां अपने प्रिय विषय पर आ जाएं तो बोलती ही रहती हैं । बड़े उत्साह से उन्होंने सारी पैकिंग खोली और एक-एक चीज मेज पर सजाने लगीं ।

सेट सचमुच जोरदार था । बारह लोगों के लिए था । मां का हर काम रॉयल ही होता है । एक-एक प्लेट उठाकर मैं देखने लगी, सब-पर कलात्मक अक्षरों में ‘रूपरेखा, कार्तिक कुमार’ अंकित था ।

“आप तो नाम भी लिखवा लाईं,” मैंने कहा ।

“ठीक रहता है,” उन्होंने रहस्य-भरे अंदाज में कहा, “वह एक फुलझड़ी बैठी हुई है न घर में । क्या पता, कल को सब-का-सब उठा कर उसे दे दें ! उन लोगों को दर्द थोड़े ही आएगा । पर अपनी तो खून-पसीने की कमाई है रेखा आ जाती, उसे दिखा देते तो पैक हो जाता । तुम्हारे पिताश्री देखना चाहें तो बुला लो । वे तो साधु महाराज हैं । इन चीजों में उन्हें कोई इंटरेस्ट नहीं है, पर मुझे तो इसी दुनिया में रहना है न...पर यह छोकरी गई कहां ?”

“वह आजकल भरतनाट्यम् सीख रही हैं,” आखिर मैंने कह ही डाला, “हफ्ते में तीन दिन जाना पड़ता है ।”

“भरतनाट्यम् ! कब से सीख रही है ? कौन सिखा रहा है ? किस-पूछकर सीख रही है ?” मां तो एकदम वरस पड़ीं ।

“परेशानी की बात नहीं है मां ! पपनाभ की बहन दो-तीन महीने के लिए आई हुई हैं, तो दीदी अपना पुराना शौक पूरा कर रही हैं। वहां कोई कीस थोड़े ही देनी पड़ती है।” मैंने समझाने का प्रयास किया तो उसका उलटा ही अंसर हुआ। वे और भी नाराज हो गईं।

“फीम न देनी पड़े तो मां मे पूछने की जरूरत नहीं है ? ठीक है न, पैमे कमाने की मशीन तो हूं मैं; मुझसे और कोई रिश्ता थोड़े ही है तुम लोगों का... और ये सज्जन ! घर में बंटे-बंटे इतना भी नहीं देय सकते, लड़की कहां जा रही है, क्यों जा रही है। भरननाट्यम् सीखेंगी...”

और मां उसके वाद जो शुरू हुईं तो घंटे भर तक बंद ही नहीं हुईं। यह करीब-करीब हर छुट्टी का एक कार्यक्रम-सा हो गया है। कोई-न-कोई बात ऐसी हो जाती है कि मां को बरमन का मौका मिल जाता है। भाई उस बमबारी से बचते रहते हैं। पापा अनसुनी करके अपने धैर्य की धाड़ी या पुस्तक में धो जाते हैं। लड़कियां बेचारी कहां जाएं, चुपचाप मुबकते हुए घर का काम करती रहती हैं या पढ़ाई की मेज पर सिर डाल कर आंसू बहा लेती हैं।

अगर मां पहलेवाली मां होती तो मैं उनके गले में दोनों बांहें डालकर कहती, ‘इतना नाराज क्यों होती है मां ! दीदी को अब यहाँ रहना ही कितने दिन है। उन्हें थोड़ी मनमानी कर लेने दो ना, फिर तो चारदीवारी में बंद होना ही है।’

पर मां आजकल इतनी अजनबी-सी लगती हैं। उनसे तो बल्कि पापा ज्यादा अपने लगते हैं।

घास कर उस दिन तो पापा बहुत ही अपने सगे थे, जिस दिन मां पहली बार नौकरी पर गई थी।

मुबह स्कूल के लिए चलते समय मां ने सारी बातें ठीक से समझा दी थीं, ‘चाभी सामनेवाली कपूर आंटी के यहां मिलेगी, घाना अलमारी में ढक्का मिलेगा, स्टोव कोई नहीं जलाएगा। रेखा घाना लगाएगी, गिखा प्लेटें उठाएगी, बिनय सबके यूनिफॉर्म्स तहा कर रखेगा।’

छोटी-छोटी हिदायतें थी पर हमारे छोटे-मे मस्तिष्क पर जैसे योद्धा



“लेकिन मुझे तो आप गुनहवार बना रहे हैं ?”

“तुममें कुछ कहा है मैंने ?”

“कहा तो नहीं, पर इतनी दूर से घर आने का अहसान क्यों ?”

“मैंने किमीपर कोई अहसान नहीं किया, अपने बच्चों के लिए आया था; रोज आऊंगा,” पापा ने कुछ दृढ़ स्वर में कहा और मुंह-हाथ धोने निकल गए ।

“बच्चे-बच्चे-बच्चे !” मां जैसे पागल हुई जा रही थी, “जब देखो, बच्चों की घान उठाएंगे । क्या मुझे कोई ममता नहीं है, बिता नहीं है ? और बच्चे क्या इन्हीं के अनांखे हुए हैं ? आज शहर की नये प्रतिभात औरतें नौकरी करती है । गोद के बच्चों तक को छोड़कर जाती है । उनके यहा कोई तूफान नहीं होता । मेरे बच्चे तो फिर भी बड़े हैं पर इन्हें आत्मनिर्भर होने का मौका तो दे कोई । अगर सोग-बाग इसी तरह दुश्मनी निकालते रहे तो ये बौने के बौने रह जाएंगे ।”

मा पता नहीं किननी देर तक बड़बड़ाती रही । पापा बायरूम से निकलकर कमरे में चले गए और हम तीनों रजाई में दुबककर खाने के बुलावे की प्रतीक्षा करते रहे ।

यह पहला मौका तो नहीं था । पर हर बार मुंह का स्वाद उतना ही कसैला हो जाता था ।

कितने दिनों से घर में यही नाटक चल रहा था ।

बिनोद कंस्ट्रक्शंस में पापा की अच्छी-भली नौकरी थी । गुजारे लायक मिल ही जाता था । पर मां को संतोष नहीं था । सोचनी थी, कंपनीवाले पापा की प्रतिभा का फायदा तो उठा रहे हैं, पर ठीक से मुआवजा नहीं दे रहे । मा की जिद के कारण पापा को बापिर नौकरी छोड़नी पड़ी । अब दो साल से पापा सदर में दफ्तर खोचकर बैठे हुए हैं । पापा के पास प्रतिभा थी, अनुभव था, हिसाब-किताब की क्षमता थी । पर प्राइवेट बिजनेस में इतने से नहीं चलता । चार लोगों से मेल-मुलाकात चाहिए, गट्स चाहिए, डेअरिंग चाहिए और चाहिए पूजी; कम-से-कम इतनी पूजी तो हो कि घाटा उठाने की हिम्मत बंधे ।

पापा यही मात खा गए थे । और घर में असंतोष की पहली

चिनगारी तभी फूटी थी ।

तब तो यह सब जानने की उम्र नहीं थी । तब तो यही समझी थी कि पापा की नौकरी चली गई है । इसीलिए मां को नौकरी करनी पड़ रही है । पाम-पड़ोस में भी यही सुन पड़ता था ।

दूसरे दिन भी पापा ने ही दरवाजा खोला था । पर पहले दिन की खुशी आज आधी रह गई थी । भाई ने धीरे से कहा भी, "पापा, अब तो हम लोग बड़े हो गए हैं । अपने-आप खा लेंगे । आप इतनी दूर मत आया कीजिए ।"

"न बेटे, स्कूल से लौटकर अपने-आप खाना खाने में कितना दुःख होता है, इसे मैं बहुत अच्छी तरह जानता हूँ । भेरी तो खैर मजबूरी थी । पिता का साया सिर पर नहीं था । पर तुम्हें यह दुःख क्यों दूँ?"

बचपन की बात करते-करते पापा का स्वर अकसर भीग जाया करता था । बहुत कम जानते थे हम । वस यदाकदा मूड आता तो कुछ बता देते थे । उन कभी-कभार सुनी हुई बातों से मन में एक खाका बना लिया था हम लोगों ने । उसमें पापा थे, एक बुआ थीं और दादी म थीं । पापा के बाबूजी तो उन्हें दो साल का छोड़कर ही चल बसे थे । दोनों बच्चों को लेकर दादी मां अपने भाई के पास चली गई थीं । वहीं उन्होंने आठवीं की परीक्षा दी, ट्रेनिंग ली और फिर दोनों बच्चों को लेकर नौकरी के लिए निकल पड़ी थीं ।

दादी मां को मैंने नहीं देखा । भाई के जन्म के कुछ दिन बाद चली गई थीं । बुआ तो जायद बहुत पहले, बचपन में ही चल गई थीं । पापा के स्नेहहीन बचपन की एकमात्र साथी थीं उनकी जिज्जी । कैसा लगा होगा उनकी मृत्यु पर ! पापा बहुत कम बोलते अपनी जिज्जी के विषय में । जायद उन्हें उतना कुछ याद भी न रहा हो ।

बहुत वर्षों बाद पापा ने अपनी बहन की करुण अंतकथा मुझे, मुझे सुनाई थी ।

सोलह-सत्रह वर्ष की कच्ची उम्र में जिज्जी से कोई असम्यक हो गया था । पापा हाईस्कूल के विद्यार्थी थे उन दिनों । बहन के

की गंभीरता को समझने की उम्र भी नहीं थी। फिर भी रोप से सुलग उठे थे वे। उसी आवेश में मां की बताई हुई दवा शहर से तुरंत ही ले आए थे। बहुत तेज दवा थी। बुआ तीन दिन मछली की तरह छट-पटाती रही थी। वे दादी के साथ निर्विकार भाव से उन्हें मौत के मुंह में जाते हुए देखते रहे—बदनामी के भय से डॉक्टर तक को बुलाया नहीं।

अपनी उन्हीं अपराधिन वहन को अग्नि देते समय उनका किशोर मन कांप-कांप गया। सारे आरोप-प्रत्यारोप तो मृत्यु के साथ ही बिना गए थे। बच रहा था एक भयानक अहसास, एक अपराधबोध कि जिम्मी अपनी मौत नहीं भरें। उनकी हत्या की गई है और उस हत्याकांड में उनका भी बराबर का हिस्सा है।

वहन की यह कलंक-गाथा पापा ने मां की भी कभी नहीं सुनाई। मुझसे ही कैसे कह गए, आश्चर्य होता है।

उन दिनों मैं अपना एक पैर तुड़वाकर बिस्तर में कैद हो गई थी। मां ने पंद्रह-बीस दिन की छुट्टी ले ली थी। फिर कभी महरी के, कभी पड़ोसवाली आंटी के भरोसे मुझे छोड़कर काम पर जाने लगी थीं। ज्यादा छुट्टी लेना संभव भी नहीं था।

छिड़की के पास लगे बिस्तर पर बैठकर मैं हसरत से सड़क का नजारा देखा करती। कैलेंडर को देखकर प्लास्टर खुलने का दिन गिना करती। तब पापा अबतीण हुए थे दोस्त बनकर, मित्र बनकर। अपने साथ वे डेर-की-डेर पत्रिकाएं ले आते। उनमें फिल्मी भी होती, बर्बाद-वाली भी। कहते, इससे मन हल्का रहता है।

पढ़-पढ़कर बीर हो जाती मैं, तो वे मेरे माथ बैठकर रमी, लूडो या सांप-सीढ़ी भी खेलते। शतरंज मैंने उन्हीं दिनों सीखा। खेलते-मेलते हम लोग ऊब जाते तो वे काँफी या बोनविटा बना साते। फिर हम दोनों आमने-सामने बैठकर सिर्फ बातें करते। पापा तब अपने बचपन की बातें करते—बचपन, जिसे उन्होंने मछमली डिबिया में बंद करके मन के तहखाने में दाल दिया था।

ऐसे ही भावुक क्षणों में उन्होंने बुआजी की यह कहानी मुझे सुनाई थी और कहा था, "जानती हो बेटे, इसीलिए तुम सोयों को पल भर भी

छोड़ने का मेरा मन नहीं होता। दुनिया में सभी लोग तो सभ्य हैं। और तुम लोग अभी कितनी नासमझ हो। पर तुम्हारी मां को सब समझाना कितना कठिन है !”

पापा तो यह कहकर चुप हो गए थे, पर मैं उनका मतलब समझा। उन दिनों मां ने जैसे हमें सब विषयों में पारंगत करने की कसम ली थी। सितार, कथक, स्विमिंग, बैडमिंटन—कोई विषय नहीं छूटा। क्लाम में भी रिजल्ट अच्छा रखना पड़ता था। अंग्रेजी और गणित लिए बराबर ट्यूशन लगी हुई थी। इतना सब करते-करते हम लोग फ जाते, तो कहतीं, “हमें शौक था तो हमें मौका नहीं मिला। दूसरों को देखकर तरसकर रह जाते थे। तुम लोगों को सुविधाएं मिल रही हैं तो नखरे आ रहे हैं।”

सात-आठ भाई-बहनों का लंबा-चौड़ा परिवार था उनका। उस मध्यवर्गीय परिवेश में संभव ही नहीं था कि सारी इच्छाएं, सारे शौक पूरे होते। समय से शादी हो गई, यही बहुत था। बचपन की सारी अतृप्त इच्छाएं मां के मन में एक चिरंतन आक्रोश भर गई थीं। अपने वर्तमान से वे कभी खुश नहीं रहीं। सुनहले भविष्य के लिए उनका असीम आग्रह पारिवारिक जीवन को नरक बनाने पर तुला हुआ था।

उन दिनों पापा मेरी बीमारी के कारण दिन-दिन भर घर में बैठे रहते। इसी बात को लेकर अक्सर दोनों में झड़प हो जाती। एक दिन तो हृद हो गई। दफ्तर से लौटते ही मां सीधे मेरे कमरे में चली आई। मुझसे हाल-चाल भी न पूछा, एकदम तिव्र स्वर में पापा पर बरस पड़ीं, “इसका बहाना लेकर आप कब तक घर में बैठे रहेंगे? मैं यहां-वहां से क्लाइंट्स जुटाकर भेजती हूं तो आपके दफ्तर में ताला पड़ा मिलता है। लापरवाही की भी हद होती है। क्रम से चार घंटे तो वहां बैठा कीजिए। बेकार में हर महीने इतना किराया जा रहा है।”

पापा ने उस समय तो कोई उत्तर नहीं दिया। अच्छा ही हुआ। मेरी दो सहेलियां तबीयत देखने आई हुई थीं, उनके सामने तमाशा नहीं हुआ। पर दूसरे ही दिन उन्होंने ऑफिस हमेशा के लिए छोड़ दिया। सारा सामान घर ले आए। बरामदे में एक पार्टीशन लगवा कर बोर्ड टांग

दिया। मां सिर चटककरे रह गई। सच ही था, उतने किराये में उनकी मीके की जगह दोबारा मिलना असंभव था।

पर पापा टस-से-मस नहीं हुए।

मां के लिए भुनभुनाते रहने का जैसे एक स्थायी कारण जुट गया। रोज की चखचछ से हम लोगों में तो इतनी दहशत भर गई कि संगी-साधियों की घर पर बुलाना ही छोड़ दिया।

भाई उस साल पहली बार फेल हुए थे।

संगीत की स्वरसह्रियां मुझे होले से आकर जमा गईं। कहीं से 'सुप्रभातम्' आ रहा था। रजाई से सिर निकालकर देखा, बाहर घुण्ण अंधेरा था। प्रभात अभी कोसों दूर था।

अपनी उनीची आंखों को धोड़ा और कष्ट दिया, तब देखा; दीदी अपने टू-इन-वन को हृदय से लगाए निस्पंद पड़ी हैं। ध्यान से सुनने पर गीत भी समझ में आ गया। विनयपत्रिका की शिव-स्तुति थी, कर्नाटक शैली में गाई जा रही थी—कवु-चुंदेंदु-कर्पूर-गौर शिवं...

संगीत मुझे भी अच्छा लगता है पर समय-समय से। यह धोड़े हो कि आधी रात से उठकर शुरू हो गए। मैंने हाथ बढ़ाकर टेप बंद कर दिया तो दीदी की तंद्रा टूटी। "दुष्ट," उन्होंने हाथ में चिकोटी भरते हुए कहा।

"सोने दो यार, क्या आधी रात से रागमाला लेकर बैठ गई," मैंने कहा।

"आधी रात नहीं है, चार बज रहे हैं। जरा ध्यान से सुन तो। खास तुझे सुनवाने के लिए टेप करवाई हूं।" मजबूरन सुनना ही पड़ा।

"नया मेट किया है?"

"हां।"

"फिर किमी प्रोग्राम का चक्कर तो नहीं है? कार्तिकजी मना कर गए हैं।"

"प्रोग्राम के लिए मना किया है, सोचने पर कोई बदिश तो नहीं है न!"



“लेकिन व्यर्थ में करने से लाभ क्या है दीदी, नृत्य चारदीवारी में रखने की विद्या तो है नहीं।”

“चारदीवारी में बंद रहने की अभी कसम तो नहीं ली है मैंने,” दीदी ने तैश में कहा और फिर एकदम भावुक होकर बोली, “उसके सीखने में भी एक आनंद है शिखि ! इतना ग्रेस है इस नृत्य में ! सच, रेणु दीदी को नाचते हुए देखती हूं तो अपना इतने सालों का सीखा कथक व्यर्थ लगने लगता है।”

दीदी एक निःश्वास लेकर कैमेट से खिलवाड़ करती रहीं और फिर वही गीत बज उठा जो अभी रजत जयंती समारोह में बहुत सराहा गया था—स्याम सो हमारी राम-राम कहियो...

दीदी की भावाभिव्यक्ति उस समय देखते ही बनती थी। थोड़ा-सा दक्षिण भारतीय पुट लिए पद्मनाभ का मखमली स्वर और भैरवी की भावप्रवण स्वरावलि। सच, आंसू निकल आए थे मेरे तो।

दीदी की मुंदी पलकों पर इस समय भी कुछ बूंदें चमक रही थीं। शायद वे लौट गई थीं अपनी ‘विरहिणी राधा’ की भूमिका में। गीत समाप्त होने के बाद भी उनकी तंद्रा टूटी नहीं। मैंने ही बटन ऑफ किया।

“ही इज एन एंजल, रियली !” उन्होंने जैसे अपने-आपसे कहा।

“कौन ?”

“यही, पद्मनाभ ! कभी-कभी मुझे लगता है शिखि कि कोई शाप-ग्रस्त गंधर्व ही मेरे लिए इस पृथ्वी पर आ गया है।”

“वह भी शायद यही सोचता हो !”

“क्या ?”

“यही कि कोई शापग्रस्त अप्सरा उसके सुरों पर थिरकने के लिए धरती पर उतर आई है।”

“सच, तू भी यह सोचती है ? उस दिन पद्मनाभ भी यही बात कह रहा था।”

“दीदी !”

“हूँ ?”

“कहीं तुम इमोजनली इन्वाल्ड तो नहीं हो ?”

“पता नहीं शिखा, पर मैं इतना जानती हूँ कि यह श्वकिन मेरे हर कदम पर फूल की तरह बिछ जाना चाहता है; और एक तुम्हारे कार्तिक हैं—तुम्हें नहीं लगता शिखा कि मां अपनी झूठी प्रणिष्टा के लिए मेरी बलि दे रही है?”

“मां की बात छोड़ो दीदी, तुम अपने मन का तो पता करो। मुझे बिना पूछे तो कुछ हुआ नहीं है।”

“यही तो...कभी-कभी अपना ही मन कौनो खूबसूरत पहेंली घन जाता है। सगाई में पहले मैं जानती ही नहीं थी कि मेरे जीवन का केंद्र-बिंदु क्या है।”

घर में रह गई मैं। यह क्या कह रही है दीदी! कहीं मां ने मुन लिया—और मेरी आंखों के सामने मां का उस दिन का ताड़व घूम गया।

दीदी को चाहे अपने मन की बात बहुत बाद में पता चली हो पर लगता है, मां ने उनका मन बहुत पहले पढ़ लिया था। तभी तो वे इतनी व्यग्र हो उठी थी, नहीं तो हम सोपों के कहीं आने-जाने को लेकर उन्होंने कभी टीका-टिप्पणी नहीं की। उनका अपना बचपन बहुत-सी बंदिशों में बीता था। अपने उसी कुठाग्रस्न बचपन का प्रतिशोध मानो इस तरह लेनी भी वे।

पर दीदी की सगाई के साथ उनके मन में छुरी बैठी परंपरावादी मां याहर आ गई थी। अब तो वे अक्सर दीदी को डाट देनी हैं या मुद्गलों की-सी अंदा में ममझाने लगती हैं। दोनों ही बातें विचित्र-भी लगती हैं।

“एक बात कहूँ, दीदी?”

“कहो!”

“पछनाभ इतना मो मैच क्रॉर कार्तिक! उन दोनों की कोई तुलना नहीं है।”

“तुलना कर भी कौन रहा है। यह तो अपनी-अपनी पसंद है।”

“फिर भी एक बात कहूँगी। पछनाभ पनि के रूप में तुम्हें कभी छुष नहीं रख पाएगा।”

“क्यों? वह बहुत अमीर नहीं है इसलिए?”

“नहीं ! यह प्रश्न यहां बहुत गौण है ।”  
 “तुम्हारे स्नेहदान से, तुम्हारे रूप की गरिमा से वह इतना अभिभूत  
 जाएगा कि कभी तुमपर अपना अधिकार नहीं जमा पाएगा ।  
 तुम बहुत जल्दी ऊब जाओगी, खीज उठोगी ।”  
 “लगता है, काफी रिसर्च कर रखी है इस विषय पर !”  
 “रिसर्च करने जैसा क्या है इसमें ? अपने आसपास आंखें खोलकर  
 देख लो, समझ जाओगी ।”

“अच्छा तो शिखाजी, लगे हाथ यह भी बता दीजिए कि आदर्श  
 पति की परिभाषा क्या है ?” दीदी ने चिकोटी ली तो मैं रट्टू तोते की  
 तरह गुरू हो गई, “आदर्श पति वह है जो अपनी पत्नी से हाथ भर  
 ऊंचा हो और उसे सदा अपनी नाक के नीचे रखे । प्यार में हो या  
 तकरार में, उसका पलड़ा सदा भारी रहे । अपने समर्थ कंधों पर वह  
 पत्नी की सुरक्षा का, सुख-सुविधा का, भरण-पोषण का भार उठा सके ।  
 जो....”

“बस-बस, बस...समझ गई ! तुम्हारा यह आदर्श पति ठीक  
 कार्तिक का हमशक्ल है । और तुम दोनों एकदम सोलहवीं सदी से चले  
 आ रहे हो ।”

‘तुम दोनों,’ दीदी ने अनजाने ही कह दिया था पर मन में जैसे  
 जलतरंग वज उठा । कल्पना में अपने को कार्तिक की वगल में खड़ा करके  
 देखा, और दूसरे ही क्षण सारा संगीत थम गया, दीपावलियां बुझ गईं ।  
 दीदी के सामने अपनी ढेरों विसंगतियां याद आने लगीं । और हल्का-सा  
 मोच खाता अपना दाहिना पांव भी ।

लोग यों ही कहते हैं कि पितृमुखी कन्या भाग्यवान होती है । क्या  
 इसीको भाग्य कहते हैं कि आदमी सपने देखते हुए भी सहम जाए ।

कॉलेज से लौटी तो देखा, घर में खून हंगामा मचा हुआ था । मां  
 दफ्तर से असमय लौट आई थीं और भाई और दीदी के साथ जमकर  
 बहस हो रही थी । सभी चीख-चीखकर अपना पक्ष प्रस्तुत कर रहे थे ।

कुछ देर तक शांति से सुनती रही, तब जाकर उस हड़बोंग का सिर-  
पैर समझ में आया। दोदी के मौजेरे बैठ नौस्को से आए हुए थे। उनके  
साथ उनकी रुसी पत्नी भी थी। दोनों दोदी को देखने को उत्सुक थे,  
शाम को सब लोग आ रहे थे।

दोदी मुझे मैं बड़बड़ा रही थी, "मेरा अच्छा-खासा तमागा बना  
रखा है इन लोगों ने। हर तीसरे दिन कोई चला आ रहा है। खानदान  
न हुआ, मुगनिमा मल्लम हो गई।"

"हुसे करना क्या होता है," मां बोलीं, "तैयार होकर मामने  
बैठना भर होता है। बग मेरी तो मोच, चार चीजें लानी हों तो बाजार  
मुझे ही जाना है। घर टोक कच्ची गो में ही। तेरे पापा डंग के बड़े  
पहनकर बाहर बैठ भी जा, तो मनीमन है। औरों का तो सवाल ही  
नहीं चलता।"

"धौब मन्नी," नाई एकदम गरजे, "बिकार में झूठ न बोलिए।  
जब भी मौका पड़ा है, मैं ही कुनियों को तरह सामान ढोता फिरा हूँ।  
आज भी जो बड़ा डेरा कच्चा, पर मैं पूछता हूँ, हर बार इतना शाही  
संरजाम क्या बचता है?"

"तेरी बेद मे तो नहीं आ रहा न कुछ?"

"मेरी बेद इन मामूली कमी नहीं बनेगी, मुझे मालूम है। फिर भी  
पूछने का हक तो है। बहुत ऊंची चढ़ान भरी है मां आपने। निमाते-  
निमाते इन पुन आरगा।"

"तो मंगा क्या है मेरी? उसे भी किसी भट्ठी में फेंक दू? बिन्दती  
भर उनकी रहेगी मेरी तरह।"

"मां, कुछ करना ही तो बता दो जल्दी से। ये बातें बाद में भी  
होती रहेगी," मैं तिकन्धर में बहा, तब जाकर वह नहासात बन।

फिर वही दान-नौदां गुरु हो गई—मोठे के बदन बढ़ने आ रहे  
हैं, दोदान की जगह बदली आ रही है, नये पड़े सर रहे हैं कच्ची  
चनकाई आ रही है, नाले का मामाने बनाया जा रहा है। और कई  
बेचारे बाजार के चक्कर लगाकर बेहान हुए आ रहे थे। मां ने एक-  
एक से कुछ-कुछ आद आ रहा था।

“कभी-कभी मुझे लगता है,” भाई बोले, “ये लोग किसी-न-किसी व्हाने या तो जासूसी करने आते हैं या हमारी परिस्थिति का मजाक बनाने।”

भाई ठीक ही कह रहे थे। पिछली बार दीदी की फुफेरी सास को लेकर उनकी ननद आई थी तो देर तक कप-प्लेटों को उलट-पुलट कर देखती रही। मां ने दूसरे दिन ही नया सेट मंगवा लिया। एक बार दीदी के श्वसुर अपने किसी मित्र के साथ आए थे। दीदी की ‘शकुंतला की विदाई’ वाली बड़ी-सी फोटो ड्राइंगरूम में लगी थी। इतनी पुरानी फोटो थी, दीदी के हाईस्कूल के जमाने की। पर उसे भी वहां से हटाने के निर्देश मिल गए थे। एक बार बिना किसी सूचना के आ धमके थे ये लोग। दीदी उस समय छत पर बाल सुखाती हुई पड़ोस की कान्ति दीदी से बातिया रही थीं। उस पर भी आक्षेप उठाया गया।

समझ में ही नहीं आता था कि ये लोग आधुनिक हैं या पुरातनपंथी। अगर पुरातनपंथी हैं तो रोज-रोज समझियाने में आने की क्या तुक थी? मां इस समय भी बहुत परेशान थीं। दफ्तर में फ़ोन करके उन्हें इन मेहमानों की सूचना दी गई थी। तब मां पापा को लेकर बाकायदे निमंत्रण देने गई थीं। वहां दीदी की सास ने उन्हें कई बार, कतरीकों से बताया था कि नवीन और नताशा शादी में नहीं रहेंगे। और मां पसोपेश में थीं कि उन्हें शादी का नेग अभी ही दे दिया जाए या

“हटाओ भी मां, वह कोई खूसट हिंदुस्तानी बुढ़िया है जो नेग की बात समझेगी। इतना जोरदार स्वागत कर रहे हैं हम लोग। इज्जता की तो उन्हें आशा भी न होगी।”

“पर वह खूसट बुढ़िया साथ में रहेगी न!” और मां ने हमारे करने पर भी ५१ रुपये के दो लिफाफे तैयार कर लिए थे। मही वार्ड्स तारीख को इतनी रकम भी भारी पड़ गई थी। सारा गड़बड़ाया जा रहा था, पर मजबूरी थी।

हमारी आपा-धापी से बेखबर दीदी चुपचाप तैयार होती उन्होंने लाल और काले फूलोंवाला सलवार-सूट पहन लिया। हलका-सा मेकअप करके एक डोली चोटी डाल ली थी। वे बहुत

लग रही थी। उदास और सुंदर।

“साड़ी-वाड़ी पहनो,” मां ने देखा तो डांट दिया।

“हम अपने घर में बैठे हैं, जैसे है, ठीक है,” दीदी ने मुंह फुला कर कहा।

“कहीं वह महारानी हुईं साथ में तो---”

“होंगीं तो आंख बंद कर लेंगी। अब हमारा दिमाग मत घाइए। नहीं तो हम सीधे मैक्सी पहनकर बैठ जाएंगे, हां!” दीदी ने दो टूक फ्रंसला मुना दिया तो मां चुप हो गई।

मुझे लगा, दीदी बिद्रोहिणी बनती जा रही है, मां ने श्यादा तंग किया तो मुंह उठाकर कह देंगी—‘मारों गोली शादी को, हमसे यह गुलामी नहीं होगी।’

मां भी इस बात को ममझती हैं शायद। तभी न चुप हो गई।

“हेनो गर्ल्स, एम आइ ऑल राइट?” पापा ठीक साढ़े चार बजे तैयार होकर बाहर आ गए। कभी-कभी ही सूट पहनते हैं पापा, पर बड़े स्मार्ट लगते हैं तब।

“भाई, आप भी तैयार हो जाइए न,” मैंने कहा।

“हम ऐसे ही ठीक हैं,” भाई ने कुरते की बांह से माथे का पसीना पोंछते हुए कहा, “हमें तो बैरागीरी करनी है। साहब बहादुर को हमसे बात तो करनी नहीं है। बेकार कपड़ों की शीख खराब करें?”

“अरनी योग्यता बढ़ाओगे नहीं और फिर इसी तरह इन्फ्रीरियोरिटी कॉम्प्लेक्स में मड़िते रहोगे।”

“प्लीज मा” मैंने कहा तो मां चुप हो गई, पर उतनी देर में भाई का चेहरा कितने ही रंग बदल चुका था।

ठीक पाच बजे कार्तिक की गाड़ी दरवाजे पर थी।

मैं कमरे में तैयार हो रही थी। उत्सुकतावश छिड़की से झांककर देखा तो वे अकेले ही थे। एडवांस गाइड बनकर आए होंगे शायद। यहां की व्यवस्था ठीक-ठाक करने के लिए।

जल्दी से बेहरे पर पाउडर का एक हाथ फेरकर मैं निचन में आ

गई। सब कुछ एकदम तैयार था, बस मेहमानों के आने भर की देर थी।

तभी मुना, वे पापा से कह रहे हैं, “नवीन भैया से मिलने बहुत सारे लोग आ गए थे घर पर। माताजी बोलों, रेखा को यहीं ले आओ।”

परम पूजनीया माताजी के एक आदेश से दिन भर की दीड़-धूप व्यर्थ हो गई थी। सौ-पचास रुपयों का भुर्ता बन गया था। अपमान—घोर अपमान से मुलग उठी मैं।

भाई की ओर देखा तो उनका चेहरा भी तमतमा आया था। “मैं जाऊँ, मां?” दीदी जब पूछने के लिए आईं तो वे एकदम फट पड़े, “जाओ, और यह सब कवाड़ भी साथ लेती जाओ, बुढ़िया के सिर पर पटक मारना।” बड़ी मुश्किल से मां ने उनके मुंह पर हाथ देकर उन्हें चुप कराया।

दीदी, मां के साथ बाहर के कमरे में गईं और दूसरे ही क्षण लौट आईं।

“अब क्या हुआ?” मैंने पूछा।

“होना क्या था, मैंने तो पहले ही कहा था कि साड़ी पहन लो। अच्छा नहीं लगता। पर यहां तो सब अपनी मर्जी के मालिक हैं ना!” मां बुदबुदाईं।

उस समय मां को घुरी तरह घुड़क देनेवाली दीदी अब चुपचाप कपड़े बदलने चली गई थीं।

“जरा उनके पास बैठ तो बाहर। तेरे पापा तो उठकर चले गए हैं।”

ठीक तो था, पापा नहीं सह पाए होंगे यह अपमान। कोई भी नहीं सहेंगा।

मेरे जाते ही वे उठने को हुए और एकदम संभल गए, “मैं समझा रेखा है।”

“दीदी तैयार हो रही हैं,” मैंने सपाट स्वर में कहा।

वे चुपचाप कुर्सी पर आसन बदलते रहे, अधीरता से कभी दीवार घड़ी को और कभी कलाई-घड़ी को देखते रहे। “जी टेक्स लॉट ऑ टाइम,” वे बुदबुदाए।

“दीदी तो समय से तैयार हो गई थीं, देर तो आपकी ज़िद

कारण हो रही है," मैंने उद्विग्न स्वर में कहा ।

"पहली बार हो समझदारी बरत लेती तो दूसरी बार कष्ट नहीं उठाना पड़ता ।"

"क्यों ? नाममझी की कौन-सी बात हुई है ? सलवार-सूट कोई गैरवाजिब ड्रेस है क्या ? जानते हैं, पंजाब में दुल्हन फेंरे तक इसी पोशाक में लेती है ।"

"मैं पंजाबी नहीं हूँ," उन्होंने दृढ़ता से कहा ।

"और आपको ये मॉस्कोवाली भाभी ? वे तो शायद इतने भी कपड़े न पहननी होंगी !"

"मैं हमी भी नहीं हूँ," उन्होंने सकुन लहजे में कहा, "मैं, मेरा परिवार ख़ानिग हिंदुस्तानी है । और रेखा उसी परिवार की बहू की हैसियत से वहाँ जा रही है ।"

अच्छा हुआ, दीदी बाहर आ गई और यह अप्रिय प्रसंग वहीं समाप्त हो गया । दीदी ने माँ की एक कामदार बनारसी साड़ी पहन रखी थी । बालों में ढेर-सा तेल डाल कर कसकर जूड़ा बांध लिया था । हाथों में ढेर-सी चूड़ियाँ डाल ली थी और गले में मोतियों की सतलड़ी ।

"अब तो ठीक है ?" उन्होंने ध्यांय से पूछा ।

"अभी कहा दीदी ?" मैंने कहा और उठकर साड़ी के चौड़े बॉर्डर से सिर घूब आगे तक ठाँक दिया, "अब ठीक है । पता तो चले कि ख़ानदान की बहू चली आ रही है ।"

मुझे आग्नेय दृष्टि से घूरते हुए चले गए कार्तिक, पर मुझपर कोई असर नहीं हुआ । पौरुष अघिकार और अहंकार का प्रतीक यह देवपुरुष मेरी दृष्टि में कई सीढ़ियाँ नीचे उतर आया था ।

हो मकना था, मेरी उद्विग्नता से यह शादी टूट भी जाती । पर उमका भी मुझे दुःख नहीं था । शायद किमीको भी न होता । माँ को छोड़ कोई भी तो इस शादी से खुश नहीं है; यहां तक कि दीदी भी नहीं ।

लेकिन...लेकिन फिर मिमियाती-भी उनके पीछे क्यों चली गई दीदी ?

"छोकरी, चल आ ! अपनी पार्टी उड़ जाए ।" मैंने चौंकर दे



भाई ने पूरी सेंट्रल टेबल प्लेटों से भर ली है और सोफे पर पालथी मारकर बैठ गए हैं। बहुत अच्छे मूड में लग रहे थे जब कि मेरा अपना मूड एकदम ऑफ़ हो रहा था।

भाई का मन रखने के लिए मैं भी एक कुर्सी लेकर बैठ गई। सबसे पहले मैंने रसगुल्ला उठाया, मेरी फ़ेवरिट डिश थी। पर मुंह में रखते ही उसका स्वाद कड़ुआ हो गया। दिन भर की दौड़-धूप याद आते ही मेरा पारा फिर चढ़ने लगा।

“भाई !” मैंने तैश में कहा, “ये पीली कोठीवाले आखिर हमें समझते क्या हैं ?”

“वे हमें संसार का सबसे निकृष्ट जीव समझते हैं।” भाई ने शांति से एक समोसा गपकते हुए कहा।

“अगर हम इतने ही निकृष्ट हैं तो हमारे यहां रिश्तेदारी करने की जरूरत ही क्या थी ?” मैं इस तरह ताव खा रही थी, जैसे सामने दीदी के ससुर ही बैठे हों।

“देखो शिखा, बात यह है कि छोटे घर की बहू लाने में बड़ी सुविधा रहती है।”

“सुविधा ?”

“हां ! एक तो सुंदर-सी बहू मिल जाती है, फिर वह और उसके घरवाले ज़िंदगी भर दवे-दवे रहते हैं।”

“क्यों दवे रहेंगे ? कोई उनके घर का खा रहे हैं ? सच, दीदी पर तना गुस्सा आ रहा था आज... एक बार तो अकड़ जातीं। उन्हें भी ता तो चलता कि हममें भी कुछ ‘स्पाक’ है। गूंगी गाय की तरह चलो ई चुपचाप।”

“तू होती, तो तू भी चली जाती।”

“मैं ! माय फ़ुट ! आत्मसम्मान भी कोई चीज़ होती है, भाई !”

“होती क्यों नहीं ! पर उससे भी बड़ी एक चीज़ होती है, सुरक्षित वण्य।”

“होती होगी, पर अपना सम्मान देकर कोई उसे ख़रीदता नहीं।”

“अभी छोटी है न तू, थोड़ी समझ आ जाएगी तो जान जाएगी कि

कितनी भी क्रीमत पर ये सौदा महंगा नहीं है।”

किमी भी क्रीमत पर ? और दोदी कितनी बड़ी क्रीमत चुका रही है। मिकं आत्मसम्मान ही नहीं, उन्होंने तो अपना सब कुछ दांव पर लगा दिया है।

“भाई,” मैंने कहा, “जानते हैं, दोदी ने एक दिन क्या कहा था ! कह रही थी कि मां अपनी झूठी प्रणिष्ठा के लिए मेरी बलि दे रही है।”

“निग्रा,” भाई ने शान भाव में केला छीनते हुए कहा, “तूने कभी किसी बलि पशु को इतने इत्मीनान से बेदी की ओर जाते देखा है ?”

अपनी पांचों बहनों में मां सबसे मुंदर थी। अब भी उनके रूप की आभा वैसी ही है। परिस्थितिया या चढ़नी भायु उसे जरा भी घुघला नहीं कर पाई है। लेकिन नानाजी इतने बड़े आदमी नहीं थे कि उनकी अपार रूप-संग्रह के साथ न्याय कर पाते। अपनी समझ से उन्हें छाते-पीते घर के इकलौते, टिप्पोंमाघारी बेटे से ब्याह कर वे सतुष्ट हो गए थे।

पिता की इस अक्षमता को मां कभी क्षमा नहीं कर पाईं। जब भी कभी प्रसंग छिड़ता, वे निश्चक होकर अपना आक्रोश उगल देतीं, हम लोग गुनने वाले ही हतप्रभ रह जाते।

इसलिए जैसे मां ने क्रमशः ले ली थी कि वे अपने बच्चों के साथ इस तरह का अन्याय नहीं होने देंगी। दोदी के लिए तो उन्होंने बरसों पहले से कहना शुरू कर दिया था कि देखना, इसके लिए ऐसा दूल्हा लाऊंगी कि सब देखते रह जाएंगे।

और मां ने अपना कहा सब करके दिखाया। पर इधर कुछ दिनों से उनका आत्मविश्वास डगमगाने लगा था। बाजार इतना ऊंचा चढ़ गया था कि एस्टिमेट बार-बार गड़बड़ा रहा था। फिर सगाई से शादी तक का फासला बेयजहू लंबा धिचता बसा जा रहा था। उसे निभाते हुए मां के छत्के छूट रहे थे। रस्मो-रिवाज निभाने में कितने रुपये फूक गए थे, उसका तो कुछ हिसाब ही नहीं था। और फिर वहां से नित नये मुसाब, नये संकेत मिल रहे थे। सगठा था, इससे तो अच्छा था,

हाई कंश तय हो जाता । एक मुश्त देकर छुट्टी पा जाते ।

पापा शुरू से इस संबंध के विरुद्ध थे, पर मां ने आदित्य मामा से सलाह से यह रिश्ता पक्का किया था । उन्हींकी बैंक में कार्तिक थे । मामाजी जानते थे कि लड़का होनहार है ।

वैसे भी आदित्य मामा की बात इस घर में पत्थर की लकीर गुणी आदमी थे, हर समस्या का समाधान उनके पास था । यों तो दूर-दराज के भाई थे मां के, पर एक ही शहर में होने से अपनापा था । फिर भी कभी-कभी लगता कि मां का उनके प्रति भक्तिभाव ज्यादा ही हो जाता है ।

भाई तो बहुत चिढ़ते । पिकनिक का प्रोग्राम हो या सिनेमा का मामाजी साथ हैं तो भाई घर पर ही रह जाएंगे । अगर मामाजी परिवार खाने पर आ रहा है तो भाई दिन भर बाहर रहेंगे । अगर पढ़ते हुए कोई यह कह भर दे कि पत्रिका मामाजी के यहां से आई है तो ऐसे छोड़ देंगे, जैसे जलता हुआ अंगार हो । पिछले दिनों मां ने दो-चार बार दबी जुवान से कहा था—‘हायर सेकंडरी फ़र्स्ट क्लास है तुम्हारा । आदित्य कह रहे थे बैंक में छोटी-मोटी पोस्ट पर लगाए लेते हैं । फिर परीक्षाएं देते रहना ।’ भाई सुनते ही एकदम विफर उठे थे—‘फ़ुटपाथ पर भीख मांग लूंगा मां, पर वहां नौकरी नहीं करूंगा ।’

छोटी थी तो भाई का यह आचरण बड़ा अस्वाभाविक-सा लगता । मामाजी के बंगले का, कार का, टी० वी० का तब ऐसा ही आकर्षण था । पर जब से होश संभाला है, तब से लगता है, मैं भी लड़का होती काश, तो भाई की तरह खुलकर कह सकती थी, ‘आय हेड पापा, नॉट फॉर हिज पावर्टी, बट फॉर हिज पेशेंस ।’

उन्हीं स्वनामधन्य आदित्य मामा का एकाएक ट्रांसफर हो गया था और मां परेशान हो रही थीं कि अब कैसे क्या होगा !

उस दिन मां शाम को दफ्तर लौटकर चाय पी रही थीं । मैं और दीदी भी खाना-जाना इतना उसी समय बाहर से लौटे । पापा का कहीं भी खाना-जाना इतना ही । मैंने ही कि घर में कोई गहमा-गहमी लगी थी । मैंने ही कि घर में कोई / मन ना

टेबल पर घुमा लिया ।

दायें हाथ में अपना कागज उठाते हुए दायें हाथ में उन्होंने जेब से कुछ निकाला और मां के सामने रखते हुए बोले, “ये कुछ रुपये हैं, रेखा की शादी के लिए रख छोड़ें ये । शिशा की करोगी तब भी कुछ देने की कोशिश करूँगा ।”

मैंने नज़र उठाकर देखा, बैंक ड्राफ्ट था, पंद्रह हजार का, मां के नाम ।

हम सभी स्तब्ध थे ।

पापा, जो इतने बेचारे-मे थे, छोटी-मोटी क्रमाइनों लेकर भी जिनके पास जाते संकोष होता था, ये इतनी रकम एकमात्र दे सकते हैं, उनका इतना बड़ा बैंक-बैनेम होगा, यह कभी सोचा भी नहीं था ।

मय तो यह है कि उनका इस प्रकार तटस्थ भाव से रुपये देना बड़ी अजीब-गी बात थी पर इसपर हमने गौर ही नहीं किया । बचपन से ही जय भी कुछ करने की बल्यना की है, जेहन में मां की समथीर ही उभरी है । पर का माहीन ही ऐसा बन गया था । पापा का जो भी योगदान था, यह इतना मौन होता था कि कभी सतह पर लाया ही नहीं । इस स्थिति को मां ने ही जन्म दिया था । सारी समस्याओं की सलीब कंध पर उठाकर वे अकेले ही घूमती रहीं ।

उनकी बातचीत का सहजा तक ‘मैं’ से भरपूर हो गया था—‘मैंने बच्चों का एडमोशन करवाया...मैंने ट्यूटर से बात की...मैंने ब्याइट-बॉग कराया...मैं डिस्टेंपर करवाऊंगी...मैंने अमुक सड़का रिजेक्ट किया...मैंने ये रिफ्टा पक्का किया...’ पर, परिवार, बच्चे—कोई भी विषय हो, पापा को माथ लेकर उन्होंने कभी मोचा ही नहीं ।

शादी भी उन्होंने अपने बल-बूते पर तय की थी । पर उनका आत्म-विश्वास ढगमगाने लगा था । संकट की इस घड़ी में पापा उन्हें देवदूत-से लगे हों तो आश्चर्य नहीं । पंद्रह हजार कोई बड़ी रकम नहीं थी (आयोजन को देखते हुए) पर उमीके सहारे वे पापा को पा गई थीं । पहली बार उन्हें लगा कि ‘हमारी बेटी’ की शादी है ।

पूरे विवाह-ममारोह में वे पापा पर इस तरह निर्भर रही कि दे

कर अच्छा लगा ।

पहली बार लगा कि पापा वहीँसियत पापा इस घर में हैं ।

दीदी पता नहीं कैसी होती जा रही थीं । घर में इतनी-इतनी बातें हो रही हैं पर उन्हें जैसे किसी से कुछ सरोकार ही नहीं । उनकी समुराल से रोज़ अजीब-अजीब प्रस्ताव चले आते हैं । सुनते ही हर कोई रोप से ज्वल पड़ता है, पर उनपर कोई असर नहीं होता । वे एक शहीदाना भाव चेहरे पर ओढ़े चुपचाप हमारी भाग-दौड़, हमारी परेशानियाँ देखती रहती हैं ।

सबसे ज्यादा हैरत तो उस दिन हुई जिस दिन मकान की रजिस्ट्री हुई थी । यह घर, यह मकान हम लोगों के लिए सिर्फ़ ईंट-गारे की इमारत तो नहीं है । इससे हमारी जाने कितनी भावनाएँ जुड़ी हुई हैं । यह दादी माँ की एकमात्र निशानी है, उनके गाढ़े पसीने की कमाई है । कठिन-से-कठिन समय में भी पापा ने इसे हाथ नहीं लगाया था, पर दीदी की शादी में यह भी हो गया । उसे बैंक के पास रहन रखने का सुझाव आदित्य मामा ने ही दिया था । सुनते ही मेरे कलेजे पर तो सांप लोट गया था । रजिस्ट्री पेपर्स पर हस्ताक्षर करते हुए पापा की आंखें छलछला आई थीं ।

पर दीदी के चेहरे पर विपाद की एक रेखा भी नहीं उभरी, वे जड़वत् नहीं, जैसे यह सारी उठा-पटक किसी और के लिए हो रही हो । दिनोंदिन एक अबूझ पहली वनती जा रही हैं वह । अभी पिछले मंगलवार की बात है । मैं बड़े मनोयोग से 'स्काईलार्क'

अप्रीशिएशन लिख रही थी । दूसरे दिन ट्यूटोरियल था । हमेशा नकर लेख को अधिक-से-अधिक जीवंत बनाने का प्रयास कर रही पर दीदी के कारण सब गड़बड़ हो रहा था । उन्होंने तो इन दिनों पढ़ने-लिखने की छुट्टी कर रखी थी । मजे

रामकुरी पर लेटी गुनगुना रही थीं । हाथ में नीटा मरकेट की गाँवल थी । तिपाई पर मसूरी से आया ताज़ा पत्र पड़ा हुआ था ।

समूहों में दस दिनों पत्रों का तांता लगा हुआ था। जैसे कार्तिक इतनी दूर से भी अपनी गिरफ्त बली नहीं करना चाहते। दीदी नियम से पत्रों का उत्तर देती हैं और क्रम से बैठकर दर्दभरे गीत गाया करती हैं।

उनकी यह मगीत-माधना ही कभी-कभी सिरदर्द बन जाती है। अब भी मेरा मन हुआ, कहूँ—‘दीदी, प्योड़, थोड़ा तो रहम करो। माना आप बहुत बड़ी टांमर हैं पर गाना आपके बस का नहीं है। इसे हम गरीबों के लिए छोड़ दो।’

पहलेवाली बात होती तो बेघड़क कह देती और दीदी से तुर्की-युर्की जवाब भी मिल जाता। पर अब कहते एकदम संकोच हो गया कि दीदी पता नहीं क्या माँवें। सोच लेंगी कि मुझे अपने ‘मुरीले कंठ’ पर नाज हो गया है सभी ऐसा कह रही हूँ।

नाज तो सचमुच है, ईश्वर ने दो ही चार चीजें तो ऐसी दी हैं जिन पर नाज किया जा सके। बाकी तो सब छातों में जमा शून्य ही है।

मेरा मगीत और दीदी का नृत्य, दोनों ही परिवार के लिए गर्व का विषय था। दीदी के साथ हमेशा मैं ही गाया करती थी। दिन भर हम लोग रिहसलों में खोए रहते, तब इस बात की कसम ओधरी पड़ जाती कि मैं कभी दीदी की तरह नृत्य नहीं कर सकूंगी।

पर इधर दो-तीन वर्षों से दीदी को यह ‘दिव्य ज्ञान’ प्राप्त हो गया है कि मेरी आवाज बहुत महीन है, वाद्ययंत्रों में खो जाती है। नृत्य के गाय तो ओजपूर्ण स्वर होना चाहिए, सभी बात बनती है।

उनके इस निर्णय से मैं तो एकदम बुझ-भी गई थी, अपने पर मे विश्वास ही उठ गया था। पर बहुत शीघ्र ही पता चल गया कि दीदी को सगन के लिए एक ‘देवी स्वर’ प्राप्त हो गया है। प्राप्त क्या हो गया है, वह तो नृत्य के साथ-साथ उनके मन-प्राणों में व्यापता बना जा रहा है। उस कंठ से निकली प्रत्येक पंक्ति उनके गले का हार बन गई है।

उस समय भी वे बागेश्वरी का गला घोटते हुए गा रही थीं—ऊधो मन ना भये दस-बीस—

मेरी सहनशक्ति जैसे जवाब दे गई। अपनी कुर्सी उठाकर मैंने उनकी कुर्सी के सामने कर ली और आवाज दी, “दीदी ! एक बात

“क्या ?”

“तुम्हारे कितने मन हैं, कभी हिसाब तो लगाओ ।”

वे जैसे एकवारगी सिहर उठीं, फिर धीरे से बोलीं, “मन तो एही है रे, पर बंट गया है ।”

उनकी इस स्पष्टोक्ति से दंग रह गई मैं । फिर कुछ और गुस्ताख लहजे में पूछ ही लिया, “दीदी, कभी आराम से बैठकर तौल कर तो देखो । पलड़ा किसका भारी है, कार्तिक का, या...”

“कार्तिक इसमें कहीं नहीं हैं पगली, मैं तो मां के वारे में सोच-सोच-कर पागल हुई जा रही हूँ ।”

“मां ?” आश्चर्य से भरकर मैंने पूछा, “मां के लिए सोचने की ऐसी क्या जरूरत पड़ गई ?”

“यही तो, मां के लिए कभी कुछ सोचने की जरूरत ही नहीं समझी हम लोगों ने । सदा उन्हें कटघरे में खड़ा करके ही देखा है । परंतु हमारा भविष्य सुधारने के लिए उन्होंने कितनी तपस्या की है, इसकी ओर कभी हमारा ध्यान ही नहीं जाता । एक अकेली औरत, जिम्मे-दारियों का हिमालय ढोती चली आ रही है और उसे हमने कभी मन भर कर प्यार भी नहीं दिया । वी हैव टेकेन हर फॉर ग्रांटेड । हमारी सारी सहानुभूति पापा के साथ रही है... कभी-कभी लगता है, यह भी पापा की साजिश रही है । आर्थिक असुरक्षा का ऐसा बोझ मां के मन-मस्तिष्क पर डाल दिया कि उनकी ममता के सारे स्रोत सूख गए, और बच्चों की सारी गुडविल इन्होंने हड़प ली ।”

मन हुआ, चीखकर कहूं—“दीदी, किस आर्थिक असुरक्षा की बात कर रही हो तुम ? पापा ऐसे अकर्मण्य तो नहीं थे, उनके पंख मां ने ही काट दिये हैं । अपनी आकांक्षाओं के लिए पापा के कैरियर की बलि दी है ।”

पर वह गुडविल हड़पनेवाला फिकरा मन में अभी ताजा था इसलिए सैफ़ इतना ही कहा, “दीदी, सभी मां-बाप अपने बच्चों के लिए खटते ; अपने-अपने ढंग से खटते हैं । उनके सारे परिश्रम के मूल में यही

भावना रहती है कि उनके बच्चे खुश रहें। मां की सारी तपस्या के पीछे भी यही उद्देश्य रहा होगा। इसीलिए पूछती हूँ दीदी, क्या तुम खुश हो?"

वे एकबारगी सिहर उठीं। फिर एक लंबी सांस लेकर दार्शनिक अंदाज में बोलीं, "मेरा सुख, मेरी खुशी तो अब सपना हो गया है रे! पर मैं हर कीमत पर मां को खुश देखना चाहती हूँ। ऐसा कोई गलत काम नहीं करना चाहती, जिससे उन्हें ठेस पहुंचे।"

"गलत काम की तुम्हारी परिभाषा क्या है?" मैंने तैश में आकर कहा, "एक सीधे-सादे इंसान को तुमने चकराघिन्नी बनाकर छोड़ दिया है। क्या बहुत अच्छा काम है यह? तुम उसे मुक्ति क्यों नहीं देती? क्या उसका कैरियर चौपट करके ही दम लोगी?"

दीदी चुप।

"और एक वे साहब बहादुर हैं, बड़े विद्वान् बनते हैं। पता नहीं ईश्वर ने उन्हें आँखें भी दी है या नहीं? तुम्हारी बातों में, तुम्हारी हंसी में, तुम्हारे पत्रों में छिपा हुआ झूठ वे एक बार भी पकड़ नहीं पाए, आश्चर्य होता है!... और सबसे ज्यादा आश्चर्य तो तुमपर होता है जो दो नावों में पैर रखकर आराम से बैठी हो। तुम मां के लिए अपना सुख होम करने की बात करती हो, पर अपने सुख के लिए तुम किस-किसका विश्वास होम कर रही हो, इसपर भी कभी सोचा है?"

"बस शिखा, स्टॉप इट!" दीदी ने एकदम कहा। उनका चेहरा तमतमा आया था, "देयर इज ए लिमिट टु एवरीथिंग।"

"यत दीदी," मैंने शांत स्वर में कहा, "देयर शुड बी ए लिमिट!"

घर में एक भयावह सन्नाटा छाया हुआ था।

मेरे मन में तो यह सन्नाटा दीदी की विदा से बहुत पहले व्याप गया था। पास रहकर भी इतनी दूर हो गई थी हम दोनों कि एक कमरा शेयर करने की मजबूरी भी अखरने लगी थी। उस विस्फोट के बाद दीदी मुझसे एकदम कतराने लगी थीं और मुझे लगता था, जैसे वे मुझसे नहीं, अपने-आपसे बच रही हों।



शादी हुई और जैसे अपने-आप ही सारे अवरोध दूर हो गए। विदा के समय मुझसे लिपटकर फूट-फूट कर रोई दीदी, मन का सारा कलमप उन आंसुओं में बह गया। लेकिन मन और भी सूना हो गया। मन भी और घर भी। और कभी-कभी ये सूनापन जैसे निगलने को दौड़ पड़ता है।

“शिखा ! ओ शिखा !” लगा कि बहुत दूर से कोई मुझे पुकार रहा है। बहुत यत्न से अपनी उनींदी आंखें खोलकर देखा, भाई पैताने खड़े मुझे आवाज़ दे रहे थे। बड़ी मुश्किल से अपने को झकझोरकर जगा पाई मैं।

“रो क्यों रही थी पगली ?”

“कहां ? नहीं तो...” मैंने कहा और छूकर देखा, पलकों की कोरें अब भी गीली थीं।

“किताब लेने कमरे में आया था तो देखा, तेरी तो हिचकी बंध रही है।”

“दीदी की बहुत याद आ रही है। उनके बिना घर कितना मनहूस लग रहा है !” मैंने कातर स्वर में कहा।

“हो जाएगी, कुछ दिनों बाद इस मनहूसियत की भी आदत हो जाएगी। क्योंकि घर की सारी रीनक तो उसीके साथ विदा हो गई है। अब घर में रह गए हैं तीन मनहूस प्राणी—तुम, मैं और पापा।”

“तीन नहीं, दो कहिए,” मैंने भी उनकी तरह विनोद का माहौल बनाते हुए कहा, आपकी गिनती कैसे कर लें हम ? घर में रहते भी हैं कभी ?”

“अरे, फ़िलहाल तो हूं। साले सब-के-सब पास हो गए। ये भी नहीं कि एकाध सप्लीमेंटरी ही ले आता। अपना काम तो चलता रहता।”

“भाई, आप किताब लेने आए थे न ! उस अलभारी में से ले लेंगे, प्लीज !” और मैं पुनः करवट बदलकर लेट गई। भाई के मुंह से ट्यूशन का जिक्र ज़रा भी अच्छा नहीं लग रहा था। उनका यों गरज-मंद होकर किसी के यहां जाना मन को बहुत सालता था।

सच तो यह था कि अब तक हममें से किसीको यह पता भी न

या कि भाई ट्यूशन भी करते हैं। सब लोग सोचते थे कि वे या तो क्रिकेट खेलने यहां-वहां चले जाते हैं या दोस्तों के साथ कॉलेज कैंटीन में बैठे रहते हैं। इससे ज्यादा जानने की कभी जरूरत भी नहीं समझी।

राज तो तब खुला, जब शादी पर भाई ने दीदी को आनंद शंकर के एक एल० पी० का उपहार दिया। तब मां-पापा को यह अहसास हुआ कि फ्रीस को छोड़कर महीनों से भाई ने कुछ मांगा नहीं है। इस अहसास को लेकर मां दिन भर उदास रही और पापा का स्वर बार-बार सरल हो आया था।

“हेलो पचनाम ! हाउ डू यू डू ?”

मैं हड़बड़ाकर उठ बैठी, पचनाम और यहा ? इस कमरे में ? मुड़कर देखा, दोनों हाथ कमर पर रखे भाई आलमारी के सामने खड़े मुसकरा रहे हैं। पचनाम की स्टीलफ्रेम-जड़ी फोटो जवाब में मुसकरा रही है।

“दीदी छोड़ गई है,” मैंने मरी-सो आवाज में कहा।

“जाते समय इसमें लिपटकर खूब रोई होंगी !”

“कैसी बातें कर रहे है आप ?” मैंने तड़पकर कहा पर आंखों के सामने वह सारा दृश्य तैर गया। भाई झूठ नहीं कह रहे थे।

“आपको इस तरह किसीकी भावनाओं का मखौल नहीं उड़ाना चाहिए,” मैंने बेमतलब दीदी की वकालत करते हुए कहा।

“मखौल कहाँ उड़ा रहा हूँ बाबा ! मैं तो हकीकत बयान कर रहा हूँ,” वे बोले। उत्तर में मैं चुप ही बनी रही तो फिर बोले, “नाराज हो गई क्या ? नाँझुरी ! याद ही नहीं रहा कि मैं परम श्रद्धेय दीदी की शान में गुस्ताखी कर रहा हूँ, जो कभी माफ नहीं की जा सकती। लकी गर्ल ! कैसे-कैसे भक्त जोड़ लिए हैं कि कोई उसकी अनुपस्थिति में भी आलोचना नहीं कर सकता। यहां तो जिदगी भर खाक छानते रहे, एक भी ऐसा न मिला, और लोग-बाग है कि सामने भी फ्रंटियां कसना नहीं भूलते; पीछे जो करते होंगे उसका तो ईश्वर ही गवाह है !”

भाई यह सब कुछ विलकुल मजाकिया सहजे में कह गए थे पर

खीर में उनकी आवाज भीग-सी गई थी। सच, भाई कभी-कभी इतने  
पारे-से लगते हैं कि उनपर प्यार आ जाता है।

मैंने फिर बात का रुख बदल देना ही ठीक समझा; कहा, "भाई,  
म लोग नाहक बड़े हो गए हैं। बच्चे ही बने रहते तो कितना मजा  
आता ! तब यह जाति की, गमाज की, भापा की दीवारें पग-पग पर  
हमारा रास्ता नहीं रोकतीं। इन चहारदीवारियों में तब यों दम न  
घुटता।"

भाई ने अपनी पसंद की दो-चार पत्रिकाएं चुन ली थीं। उन्हें लेकर  
वे मेरे पास पलंग पर बैठते हुए बोले, "तू क्या पप्पनाभ के लिए यह सब  
कह रही है?"

"यही समझ लीजिए।"

"क्या तू सोचती है कि पप्पनाभ तमिलभाषी न होता तो रेखा उससे  
विवाह कर लेती?"

"क्यों, नहीं करती क्या?"

"इसी तरह थर्ड डिविजनर एम० ए० होता, इसी तरह एक पार्लम  
क्लर्क का बेटा होता तो कभी नहीं करती... और आज भी अगर पप्पनाभ  
में कुछ भी संभावनाएं होतीं तो जाति और भापा की ये दीवारें अपने-  
आप टूट जातीं। न मां को एतराज होता, न रेखा को :"

"भाई, कभी-कभी आप बहुत..."

"बहुत कड़वा सच बोल जाता हूँ, यही न ? मां ने कार्तिक का  
रिपता जिस ढंग से हथिया लिया है, रेखा जिस स्थितप्रज्ञ भाव से घर  
की तबाही देखती रही है, उससे और क्या निष्कर्ष निकलता है?"

"बेश्ने दीदी पूरे छः महीने तक बड़े असमंजस में झूलती रही हैं,"  
मैंने कहा।

"यह असमंजस, यह अनिश्चय ही तो उसकी कहानी कह जाता  
है। उसकी आस्था में जरा भी बल होता तो इतने सोच-विचार की  
जरूरत ही क्या थी ? प्रेम कभी मध्यमार्ग नहीं अपनाता। इट इज आइडल  
गस आर नो।"

"तो यह सब कुछ छलावा था?"

“नहीं ! छलावा नहीं था,” भाई ने कहा और उठ बैठे । पोंठ पर हाथ बांधकर कुछ देर तक कमरे में चहलकदमी करते रहे फिर उसी तरह चहलकदमी करते हुए बोलने, जानती हो शिखा, ये बड़े आदमियों की बीबियाँ ऐसा एकाग्र प्रेम-प्रसंग पाल लेती हैं । अच्छा रहना है, कभी वक्त-वेक़्त उदास होने के लिए एक कारण मिल जाता है । अत्यधिक सुख से जब मन बेस्वाद हो जाता है तो थोड़े-से आंसू बहाने से राहत मिल जाती है । बड़ा कारगर नुस्खा है यह ।”

भाई जैसे अपने-आपसे बोल रहे थे । मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मुझे क्या कहना चाहिए, “और शिखा, ये लोग एक-एक सहेली भी रख छोड़ती है । ये उनके लिए कस्टोडियन का काम करती हैं ।”

“कस्टोडियन ?”

“मतलब, सरभिका । सारे प्रेमपत्र, उपहार, फ़ोटो उसे सौंप दिए जाते हैं । उनका अपना घर बेदाग़ रहना चाहिए । जब कभी थोड़ी-बहुत याद आने लगे, तो सहेली के यहां चले आए, मन बहला लिया ।”

“और सहेली ज़िदगी भर यही बेगार किया करे ?”

“पूरी बात तो सुना करो ! हमेशा यह स्थिति थोड़े ही रहती है । दो-चार सान वाद नई ज़िदगी का रंग मन पर चढ़ने लगता है । पिछली बातें बेबकूफी-सी लगती हैं । सब यह उदारमना महिशा अपनी सहेली से कहती है, ‘आज से मैं अपना प्रियतम तुम्हें सौंपती हूँ । मेरे भाग्य में इसका सुख नहीं लिखा था । ईश्वर ने शायद तुम्हारे लिए ही इसे बनाया है ।”

“सब सहेली क्या जवाब देती है ?”

“जवाब क्या देगी ! साफ़ कह देती है कि प्रेम अपनी जगह है, करुणा अपनी जगह । मुझे इस आदमी से सहानुभूति है, इसका यह तो अर्थ नहीं कि --”

“मैंने भी यही कहा था ।”

भाई चलते-चलते एकदम रुक गए, “क्या कहा ?”

“मैंने भी यही जवाब दिया था ।”

“माइ गॉड ! जानी कि रेखाजी इतनी अधीर हो उठी थीं कि हनीमन-

भीटने तक भी सन्न न हो सका... खैर, तुमने जवाब अच्छा दिया।  
प्यारी रेखा कितनी निराश हुई होगी तुम्हारा दो टूक जवाब पाकर।”  
भाई के व्यंग्य को अनुसुना कर मैंने बताया, “मुझसे कुछ नहीं कहा,  
अनाम को पत्र लिखा है।”

“क्या लिखा है?”  
“यही कि शिखा बहुत प्यारी लड़की है। ईश्वर ने उसके साथ एक  
अन्याय कर दिया है। पर उसकी भरपाई भी खूब की है। तुम दोनों  
मिलकर एक अलौकिक संगीत की सृष्टि कर सकोगे।”

“और वह गधा यह सब तुम्हें सुनाने चला आया?” भाई की  
मुट्ठियाँ एकदम कस गई थीं।

“उसका कोई दोष नहीं है भाई,” मैंने उन्हें शांत करते हुए कहा,  
“दीदी ने हजार-हजार कसमें जो दे रखी थीं, और अभी तो सब कुछ  
इतना ताजा है कि यह बात टाल नहीं सकता। चुपचाप पत्र पकड़ाकर  
चला गया।”

“और तुम्हारा जवाब?”

“वह मैंने डाक से भेज दिया। लिख दिया कि मां-बाप ने बहुत  
सोच-समझ कर दीपशिखा नाम दिया है मुझे। मैं चुपचाप जीवन भर  
जलती रहूंगी, पर किसीकी दया की भीख मुझे मंजूर नहीं है। इरादा  
तो दीदी को ही लिखने का था, पर उनका रसभंग क्यों किया जाए!”  
पर इतना सब कहते-कहते आवेग से मेरा गला भर आया, “भाई!

क्या सचमुच इतनी दयनीय हूँ मैं?”

“घट् पगली!” उन्होंने कहा और मुझे अंक में भर लिया। बड़  
देर तक मेरे वालों पर, मेरी पीठ पर हाथ फेरते रहे। भाई का य  
स्नेहल स्वरूप मेरे लिए एकदम नया था। पर उनकी यह निःश  
सांत्वना भी तो मुझसे झेली नहीं गई। पता नहीं मन कैसा हो गया  
कोई प्यार भी करता है तो मुझे उसमें दया की, करुणा की वृ  
लगती है।

“वह ऐतिहासिक पत्र देखेंगे?” बहुत हीले से अपने को अलग  
हुए मैंने कहा।

“रहने दे, उसमें देखना क्या है?” अपनी पुस्तकें समेटते हुए वे बोले, “यही सब तो लिखा होगा कि मैं अपने प्यार को यथार्थ के क्रूर थपेड़ों से बचाना चाहती हूँ, मेरे मन के तहखाने में इसे सुरक्षित रहने दो... प्रेम को शाश्वत रखने का इन लोगों का यह तरीका अच्छा है, पर जरा कठोर है... है न !” और भाई कमरे से बाहर चले गए।

मैंने दरवाजा खोलकर दीदी का वह पत्र निकाला। बड़ी सुपरफ़ाइन अंग्रेज़ी में लिखा था :

‘मैं जयदेव की पचावती बनना चाहती थी। कल्पना की आँखों से रोज़ देखती थी कि संयुक्ता और रघुनाथ पाणिग्रही की तरह हमारी जोड़ी भी रोज़ कीर्ति के नये शिखर चूम रही है... पर मैं जानती हूँ, सभी सपने सच नहीं होते। सत्य कल्पना से कौसो दूर होता है। जीवन-पथ पर सब फूल ही नहीं बिछे मिलते... तब ? क्या मोहमग के उन क्षणों में मैं तुम्हें प्यार कर पाऊँगी ? मुझे अपने ऊपर इतना विश्वास नहीं है। लेकिन जिसमें इतना प्रेम किया है, उसमें घुणा करने लगूँगी, यह कल्पना भी दहशत पैदा करती है...’

भाई बिना पड़े कैसे जान गए मद ! और जैसे दिमाग़ में एका-एक कुछ कौंध गया। भाई के चेहरे पर पुरी वेदना, उनकी आँखों का सूनापन, उसके स्वर का भीगापन... सभी जैसे एक-साथ अपना इतिहास कह उठे। कौसी मूर्ख थी मैं ! किन्तु आत्मकेंद्रित है हम सब। दिन-रात एक भट्ठी-सी सुलग रही है उनके मन में, पर विनीको आँच मक नहीं आती।

मन हुआ दौड़कर उनके पास पहुँच जाऊँ। वे थाने कमरे में नहीं थे। इतनी धूप में छत का आगन का मदाव ही नहीं था। टूली पल्ल की केबिन में टाइपराइटर की छटपट मृदाट दी। जाकर बन्दूकें देखा, शून्ग में ताकने हुए भाई नज़ीम में शिवदाह कर रहे हैं। पर छत पिलवाट में भी लगातार एक ही तान टकित होता रहा था।

“भाई !” आवाज़ पर एड्रम चौंक उठे वे।

मगीन पर मने कारक की शरद्वेष्टा का रुग्ण है।

“भाई, एक बात कहनी थी।”

“क्या ?” इस समय तक वे काफी संभल चुके थे।

“मैं सिर्फ यह कहने आई थी भाई, कि दुनिया बहुत बड़ी है... उसमें और भी लोग हैं। और सभी दीदी जैसे... या पुनीता मिश्रा जैसे नहीं हैं।”

भाई का चेहरा एकदम सफेद पड़ गया।

डूबती-सी आवाज़ में इतना ही कह पाए थे, “थैंक्स शिखा, थैंक्स फॉर अंडरस्टैंडिंग...”





कि पहचाना ही न जा सके। पुरानी स्मृतियों में डूवती-उतरती नगर में बैठ गई। भैया ने कुछ बोलना चाहा पर मेरे असंगत उत्तरों से उसने शायद मेरी मनःस्थिति भांप ली और फिर वह चुप ही रहा। कार कोलतार की सड़कों पर फिसलने लगी और उसके साथ ही मेरा मन भी फिसलता हुआ समय के उस पार पहुंचकर स्मृतियों की दुनिया में खो गया।

तंग गली के मोड़ पर तांगा खड़ा है। बाबूजी तांगे वाले को पैसे दे रहे हैं। भैया सामान लिए चल रहे हैं और उनके पीछे मैं। मेरे आने की खबर तेजी से फैल जाती है और कई जोड़ी आंखें घरों के दरवाजों, खिड़कियों और छज्जों से मुझे घूरने लगती हैं। भगतजी मिलते हैं और आशीर्वादों की झड़ी लगा देते हैं। माथुर चाची खिड़की से ही कुशल-क्षेम पूछ लेती हैं। चौबेजी की मुन्नी पप्पू को मेरी गोद से छीनकर भाग जाती है। पड़ोस के रामू दादा चिल्लाकर पूछते हैं, क्यों रो लाडो, यह कितने नंबर का पार्सल है? उनके इस प्रश्न पर सभी लोग खिलखिलाकर हंस पड़ते हैं। मां दरवाजे पर खड़ी हैं। मुझसे लिपट जाती हैं। हम दोनों के आंसुओं में बिछोह की व्यथा अधिक है या मिलन का आनन्द—कहना कठिन है। बाबूजी 'जीती रहो, जीती रहो' कहते हुए एक ओर चले जाते हैं।

"आओ दीदी"—मैं चौंकी और वर्तमान में आ गई। गाड़ी एक शानदार कोठी के सामने खड़ी थी और भैया मुझसे उतरने के लिए कह रहा था। तंग गली का वह पुराना मकान यदि कठोर यथार्थ था तो भैया का यह नया घर स्वप्न की तरह सुन्दर। दरवाजे पर ही रीत भाभी खड़ी थीं। शादी के दस साल उनके सौंदर्य और सुकुमारता में कोई अंतर नहीं ला पाए थे। सुन्दर उद्यान से घिरे उस भव्य भवन के द्वार पर वे किसी कलात्मक प्रतिमा-सी लग रही थीं। बड़ी प्यारी मुसकान के साथ उन्होंने मुझसे नमस्ते की।

"रीता, तुम दीदी के नहाने-खाने का प्रबंध करो, मैं आफ़िस जा हूँ। अच्छा दीदी, शाम को मिलेंगे।" कहता हुआ भैया सीढ़ियां उतर गाड़ी में बैठ गया। चपरासी आगे-पीछे दौड़ रहे थे। काश! मां

बाबूजी यह सब देखने के लिए जीवित रहते। यह सब मंत्र-मुग्ध-सी मैं जब तक देखती रही जब तक गाड़ी आंखों से ओझल नहीं हो गई। फिर एकाएक अपने-आपको बहुत अकेला अनुभव करने लगी, जैसे कोई नन्ही बच्ची भीड़ में खो गई हो।

ऐसा होना तो नहीं चाहिए। मैं तो अपने पीहर आई थी, अपने इकलौते भाई के घर! वह बेचारा मेरी एक-एक इच्छा पूरी करने के लिए भाग रहा था। दोनो भतीजे अपनी किलकारियों से मेरा मन पुलकित कर रहे थे। रीता बेचारी तो बिछी जा रही थी।

सारे घर के लिए मैं एक सम्मानित अतिथि थी, और यही बात मेरे हृदय को आघात पहुंचा रही थी। मैं वह रज्जो नहीं थी जिसके लिए तबा उतारने से पहले मोठा चीला बनाना मां न भूलती थीं। वह बिटिया नहीं थी जिसके लिए सेवघानी की पड़िया लाने की बात बाबूजी को मौ कामों के बीच भी याद रहती थी। वह रजनी भी नहीं थी जिसके लिए मायूर चाची आंवले का अबार और पड़िताइन मौसी उड़द के पापड़ अवश्य भेजतीं। अब मैं वह दीदी क्यों नहीं थी जिसके लिए खट्टी इमली से भैया घर भर देता था?

भैया तो सबमुच अब बहुत ही बदल गया था। यह बात नहीं कि वह मेरी उपेक्षा करता हो। वह तो बेचारा आफ़िस से जितनी जल्दी हो सके, उतनी जल्दी लौट आता और अधिक-से-अधिक समय मुझे देने का प्रयत्न करता। हम दोनों के बीच एक अदृश्य-सा तनाव बन गया था। कभी मैं सोचती, क्या वही बदला है, समय के चक्र ने मुझे क्या अछूना ही छोड़ दिया है?

एक रात खा-पीकर बैठे थे कि भैया ने मेज पर एक बड़ा-सा नक्का फैलाते हुए कहा, "दीदी, एक मकान बनवाने की सोच रहा हूं, इस शहर में। मां की भी यही इच्छा थी।"

मकान... इसी शहर में... मां की इच्छा थी— सुनकर मन कान जाने कैसा लगा। अपना पुराना, अंधेरा, सीलन-भरा मकान याद आया जिसमें मां ने अपने जीवन के बट्ठाईस वर्ष काट दिए थे, शायद

ही किसी सुन्दर घर का सपना देखते हुए ।

“हां, तो दीदी, वगीचे के ठीक बाद यह हॉल होगा, और इसके पास ही यह लेडीज ड्राइंगरूम । ठीक है न ?”

“हां, हां, बहुत अच्छा रहेगा,” मैंने कहा । पर इस समय मैं तो अपने दो कमरों के मकान के बारे में सोच रही थी । बाहर वाले कमरे में फर्नीचर के नाम पर होती थी एक मेज, एक टीन की कुर्सी और स्टूल । जब बैठने वालों की संख्या ज्यादा हो जाती तो संदूक और खिड़की से भी काम चलाया जाता ।

और लेडीज ड्राइंगरूम । इसकी तो कभी जरूरत ही महसूस नहीं हुई । दोपहर को सब अपने-अपने दरवाजे में आ जातीं, कोई बुनाई लेकर तो कोई सिलाई लेकर । कोई चावल बीनती, तो कोई सब्जी साफ़ करती, इस तरह बातें भी होतीं और काम भी । निमंत्रण कभी भी आनंददायक नहीं होते थे, क्योंकि तब उन घरों के अभाव उभर कर सामने आ जाते ।

“और दीदी, यहां वच्चों का स्टडीरूम रख दिया है । वगीचे का व्यू भी रहेगा और किसी तरह का डिस्टेंस भी नहीं होगा ।”

“हां पढ़ते समय डिस्टेंस तो नहीं होना चाहिए ।” और मेरी कल्पना में हमारा रसोईघर घूम गया । एक ओर पलंग पर दमे की मरीज दादी सोई रहतीं और दूसरी ओर मां खाना पका रही होतीं । कमरे के बीचोंबीच संदूक पर किताबें रखकर हम दोनों भाई-बहन पढ़ते रहते । दादी की खांसी, बरतनों की खड़खड़ाहट और गली का शोरगुल—इन सबके बीच भी जब भैया हर बार फर्स्ट आता था तो हम सबके कलेजे गज-गज भर के हो जाते थे ।

वह समझा रहा था और मैं सिर हिला रही थी । पर कितना समझ रही थी, इसे तो ईश्वर ही जानता है । उसी रात मेरे कानों में मनक पड़ी, “हर किसीको क्यों प्लान दिखाया करते हैं आप ? जरूरी है कि सभीको उसमें दिलचस्पी हो ?”

“हर किसीको कौन दिखाता है ? दीदी को तो दिखाना चाहिए । उसे तो इस बात का सबसे ज्यादा अरमान है ।”

“खाक है। आप तो इतनी बारीकी से समझा रहे थे पर उसमें उन का जरा भी ध्यान नहीं था।” रीता भुनभुनाई। सच, कितनी बेवकूफ बनती जा रही थी मैं। हरदम अतीत के खोल में दुबका रहना क्या अच्छा लगता है!

धीरे-धीरे मेरे जाने का दिन निकट आता गया और जब एक ही रात बाकी रह गयी तो मेरा मन अनायास भारी हो उठा। भैया दफ्तर से काफ़ी जल्दी लौट आया था और हम सॉन में बैठे गपशप कर रहे थे। रीता अन्दर रात के विशेष भोज की तैयारियों में व्यस्त थी। एकाएक भैया बोला, “दीदी, घूमने चलती हो?”

मेरे “हां” कहते ही वह उठ खड़ा हुआ। उसने न मुझे कपड़े बदलने दिए, न खुद ही कपड़े बदले और न रीता को साथ लेने दिया। शोकर ने गাড়ि के लिए पूछा तो मना कर दिया।

बंगलों से घिरी हुई उस सड़क पर हम दोनों की घरेलू पोशाक बड़ी अटपटी लग रही थी। भैया ने शीघ्र ही एक तांगा कर लिया और मैं एक मानसिक बोझ से मुक्ति पा गयी।

तांगे में बैठते ही फिर परेशानी सामने आयी। दातबीत का कोई सूत्र हाथ नहीं आ रहा था। यद्यपि मन में असंख्य बातें उमड़ रही थीं। अचानक भैया ने कहा, “दीदी, कुल्फ़ी खाओगी?”

“यहां सड़क पर!” मैंने कहा। मुझे याद आया कि बचपन में कुल्फ़ी खाना हमारे लिए बड़ी खुशी की बात हुआ करती थी। अब तो रीता रोड ही बच्चों के लिए फ्रिज में दूध के कटोरे भर कर रख देती है।

“कुछ चीजें तो सड़क पर ही खाने की होती हैं।” कुल्फ़ी वाले को पैसे देते हुए भैया बोला, “बरसात में सड़क के किनारे सिकते भुट्टों की सुगन्ध से मुंह में पानी भर आता है। है न!”

फिर तो भुट्टों की सुगन्ध और कुल्फ़ी के स्वाद ने मिलकर एक अनोखा जादू कर दिया। भैया की वाणी ऐसे फूट निकली जसे बांध टूट पड़ा हो। मार्ग में पड़ने वाली हर इमारत, हर पेड़, हर दुकान से

सकी कोई-न-कोई स्मृति जुड़ी थी। उसे सुनना बड़ा अच्छा लग  
हा था।

“बोर हो गयीं दीदी ?” वह जैसे होश में आकर बोला, “बात यह  
है कि जब से मां नहीं रही, कई बातें अनकही रह गयी हैं। रीता से तो  
यह सब कहने में मजा ही नहीं आता। वह बेचारी तो मेरे अतीत की  
कल्पना भी नहीं कर सकती।”

तांगा रुक गया था और भैया ने मुझे उतरने का संकेत किया।

“यहां क्यों ?” मैंने प्रश्नवाचक दृष्टि से उसकी ओर देखा।

“तुम यहां आए बिना ही लौट जातीं तो न तुम्हें सुख होता और  
न मुझे ! ठीक है न !” और हम दोनों हंस दिए।

हम ने गली में प्रवेश किया। समय ने उसके ढांचे को ज़रा भी  
नहीं बदला था। बदले थे तो सिर्फ वहां के निवासी। जो तब जवान  
थे, अब बूढ़े हो गए थे और अपनी धुंधली आंखों से हमें पहचानने की  
कोशिश कर रहे थे।

माथुर चाची की खिड़की आते ही हठात् ध्यान उस ओर चला गया।  
वे बदस्तूर वहां पर खड़ी थीं। बहुत देर में मुझे पहचान पायीं। फिर  
“रज्जो” कहकर इस जोर से चीखीं कि रास्ता चलने वाले हमें घूर कर  
देखने लगे। उन की बातों का तिलसिला ख़त्म ही नहीं हो रहा था।  
लगता था, बुढ़ापे ने उन की जवान को और तेज कर दिया है।

उनसे पीछा छुड़ाकर आगे चले तो तरकारी का थैला लिए रामू दादा  
मिल गए। हम लोगों ने नमस्ते की तो कुछ देर हमें देखते रहे, फिर  
मेरे शिर पर चपत मार कर सावित कर दिया कि वे हमें भूले नहीं हैं।  
खींच कर घर ले गए और चाय पिलायी। उनके घर से हमारा पुराना  
मकान दिखायी पड़ता था जहां नये किरायेदारों के बच्चे खेल रहे थे  
उनकी किलकारियों में हमारा बचपन जाग रहा था। मकान-मालिक  
हमेशा की तरह उन बच्चों को कोस रही थी। मैंने भैया के कान  
कहा, “तुम जब अपने घर का मुहूर्त करो तब उस बुढ़िया को अवा  
बुलाना।”

अंत में पहुंचे पंडिताइन मौसी के घर। मौसी के बाल सन की त

सफ़ेद हो गए थे पर उन पर वह शीशफूल अभी चमक रहा था। यह उनका एकमात्र गहना था जो किसी बजमान की स्त्री ने पुत्र-जन्म की खुशी में दिया था। बचपन में भैया अकसर उसी से झूल जाता था। तब वे कहती, “अरे, छोड़ दे रे दुष्ट ! मरुंगी तो यह तेरी बहू को ही दे जाऊंगी।” मैंने अपनी कल्पना में रीता को वह शीशफूल लगाए देखा और मुझे हंसी आ गयी। मौसी की दशा विचित्र-सी हो गयी थी। हर्ष और शोक—दोनों से विह्वल होकर उन्होंने हमें चिपटा लिया। हम तीनों इस तरह रोये मानो मां का कल ही देहांत हुआ हो। बड़ी देर बाद वे संमल पाईं। बोलती, “बेटा, किसी दिन बहू को भी तो ले आना। देखकर आंखें ठंडी कर लूं।”

मैंने भैया की रक्षा करते हुए कहा, “मौसी, किसी दिन अपने लड़के का महल भी तो देख आओ।” और विस्तार से उन्हें भैया की वैभव गाथा सुना दी। वे भी रस ले-लेकर सुनती रही और बलाएं लेती रहीं।

हम लोग जब गली से बाहर आए तो मन बड़ा हल्का हो रहा था, इसलिए नहीं कि पुराने लोग मिल गए थे बल्कि इसलिए कि उनके माध्यम से हम दोनों भाई-बहिन वपों की दीवार चीर कर फिर से एक मन एक प्राण हो सके थे।

चौराहे पर मन्नालाल हलवाई की दुकान पर जब भैया रुका तो मैंने कहा, “हद है भैया, अब भी क्या पेट में जगह रह गई है?”

“अरे दीदी, मिठाई तो मैं अपने प्यारे जीजाजी के लिए ले रहा हूं जिनकी तोंद ससुराल की मिठाई के अभाव में दुबला रही होगी।”

“शीतान।” मैंने कहा, पर उसने हंसते हुए एक गुलाबजामुन मेरे मुह में ठूस दिश और मेरी साड़ी के पल्लू से ही हाथ पोछ लिए।

## कन्यादान

दूध जलने की अजीब सी गन्ध पाकर मेरा माथा ठनका। मशीन छोड़कर रसोई में झांका तो देखा, दूध उफन-उफन कर चूल्हे में जा रहा है और सुम्मी का कहीं पता नहीं है।

“सुम्मी ?” मैंने चूल्हे में लकड़ी खींचते हुए आवाज दी। जब कोई जवाब नहीं मिला तो मैं अनायास ही बैठक की ओर मुड़ गई। सुम्मी खिड़की के पास खड़ी अपलक सड़क की ओर निहार रही थी।

“तू यहां खड़ी है और उधर दूध....”

“दीदी को शायद फिर कोई देखने आये हैं।” उसने मेरी बात अन-मुनी करके कहा।

“अच्छा।” अब तो मुझे भी कुतूहल हुआ। देखा ददू की आली-शान गाड़ी के साथ एक और भी खुबसूरत कार सड़क पर खड़ी है। योगेश कार के दरवाजे पर सबकी अगवानी कर रहा था और ददू सीढ़ियों पर हाथ जोड़े खड़े थे।

जब सब लोग साथ वाले मकान में अदृश्य हो गये तो मैं वापस मशीन पर आकर बैठ गयी। सुम्मी भी मेरे साथ चली आई। पर अब सिलाई में मन नहीं लग रहा था।

“लड़का कौन सा था री ! वह नीले सूट वाला या हरे स्वेटर वाला ?” मैंने कहा।

“तुम भी मां ग़ज़ब करती हो। जीजी के लिए वह स्वेटर वाला कैसा लगेगा ज़रा सोचो तो।”

सुम्मी ठीक ही कह रही थी। राजी के साढ़े पांच फुटी क़द के सामने

अच्छे-अच्छे लड़के भी बोलने लग उठते थे। किन्तु ही जगह निकले इनो कारण रिफ़्त नहीं हो सका था। तब मे लड़के की ऊंचाई का ध्यान रखा जाता था।

सोवते-सोवते मन हठात् उदात्त हो आया। दो माल पुरानी वह बात याद आ गई। किन्तु अच्छा घर था। लड़का इन्जीनियर, वार डिप्टी कमिश्नर। ऊंचाई पांच फुट साढ़े आठ इंच थी, फिर भी राजी के सामने जरा मा नग रहा था और राजी ने नना कर दिया था।

दूसरे दिन योगेश घर पर आया था। पहले तो उसने राजी को बखूबी माया था। फिर बोला, “बाबा जी! इतना अच्छा लड़का हाथ में जाने देना नहीं चाहते पिता जी। उन्होंने कहा है कि मुम्मी के लिए बानचीत कर ली जायें। अभी दो दिन और वे लौग शहर ही में हैं। देखने-दिखाने का कहें तो इन्वैजाम हो भी सकता है।”

मेरे मुंह में तो जैसे पानी भर आया, बड़ी आशा में मुम्मी के पिता जी की ओर देखा। पर उन्होंने बड़ी विद्रूप मुमकुराहट के माय कहा था, “योगेश! अपने पिता जी में कहना, अपनी बेटी की जूठन यहां न भेजें। मुम्मी का बाप अभी जिन्दा है।”

योगेश अपना-मा मुंह लिये लौट गया था।

हूं। बड़ी शान में कह दिया था कि उनका बाप जिन्दा है। बाप ऐसे ही तो होते हैं! दो माल में किन्ते लड़के देखे हैं?

ददू को देखो, मारा हिन्दुस्तान छान मारा है। वहां-कहां में लड़के दूड लाते हैं। पर राजी की कुटुमी में पना नहीं कैसे योग है! कहीं उसकी ऊंचाई आड़े आ जाती है, तो कहीं डबल एम० ए० की डिप्टी। कभी जीजी को घर यमन्द नहीं आया, कभी राजी को वर। और ददू या योगेश फिर धूमना शुरू कर देने हैं। जब भी वे बांग कोई लड़का नायमन्द कर देते हैं तो मेरा मन उन बच्चे की तरह दुखी हो जाता है जो ग़द ग़रीदकर मिठाई खा नहीं सकता, दूसरों की फेंकी हुई वठा नहीं सकता और तरस कर रह जाता है।

इन सब बातों को मोच-मोच कर आजकन मेरी आंखें अपने-आप ही भर आती हैं और किसी काम पर बैठना कठिन हो जाता है।



ये तो दिन भर बाहर रहते। दिन भर इतनी बड़ी लड़की आंखों के सामने रहने पर मेरी छाती में कैसा क्या होता रहता है, इन्हें क्या पता ? कहते हैं, "तुम नाहक फ़िक्र करती हो। आजकल तो पच्चीस साल से पहले कोई लड़कियों की शादी की बात सोचता भी नहीं।" ठीक है, लेकिन वे लड़कियां क्या दिन भर इस तरह घर में बैठी रहती हैं। लड़की को कालेज आप भेज नहीं सकते, खर्च नहीं पूरा पड़ता इसलिए। नौकरी नहीं करवायेंगे क्योंकि इससे आपकी वेइज्जती होती है। फिर वह बेचारी क्या करे दिन भर मां के साथ खाना बनवाये, सिलाई करवाये या...

"मां, ददू आ रहे हैं ?"

"कौन ?" मैंने अपनी विचार-तन्त्रा से जागते हुए सुम्मी से प्रश्न किया।

"ददू आ रहे हैं। पिछले रास्ते से छत पर होकर आ रहे हैं।" मैं तो अवाक् रह गई। ददू पता नहीं कितने सालों बाद इस घर में आये थे। चार पांच-साल पहले मुनीश बहुत बीमार हो गया था तब आये थे, बड़े डाक्टर को लेकर।

"बहू !"

रसोई की चीखट पर खड़े होकर ददू ने आवाज़ दी। मैंने माथे तक पल्लू खींच कर उनके पांव छुए और एक ओर खड़ी हो गई।

"बहू ! ज़रा सुम्मी को तैयार करके मेरे साथ भेज दो। राजी को देखने ढेर सारे मेहमान आ गये हैं। उसकी मां बाहर मेहमानों के पास बैठी है। योगेश की बहू रसोई में अकेली है। सुम्मी साथ रहेगी तो थोड़ा सहारा हो जायेगा।" उन्होंने कहा।

मैंने सुम्मी की ओर देखा, उसकी आंखों में इनकार साफ़ झलक रहा था। मैंने आंखों ही आंखों में उसे आदेश दिया और वह पैर पटकत हुई तैयार होने चली गई।

ददू को मैंने एक मोड़ा खींच कर दिया और सुम्मी के पीछे-पीछे चली आई यह सोचकर कि ऐसा न हो कि सिलविल सी चली जाए और जीजी को उसका रिश्ता बताते हुए शर्म लगे। चार औरतें बा

की आई थीं। क्या पता कोई घर देखने के बहाने रसोई तक भी आ जाये।

सुम्मी तो जैसे भरी बैठी थी। मुझे देखते ही भड़क उठी, "उनके सब भौंकर-चाकर मर गये क्या? जो हमें गाद किया गया है। हम नहीं जायेंगे।

"ऐसे नहीं कहते पगली! वे खुद चल कर बुलाने आये हैं। बैसी ही कोई जरूरत पड़ गई होगी, नहीं तो भला आज तक कभी ऐसा हुआ है," मैंने उसे समझाया।

तब बड़े बेमन से उमने अपना सन्दूक खोला। मैं चुपचाप बाहर निकल आई। अपने मामा की दी हुई बैंगनी रंग की अम्बिका सिल्क पहनकर जब वह बाहर आई तो गले में जैसे कुछ अटक सा गया। हाथ में, गले में, सारे धरीर पर कहीं सोने का एक तार भी नहीं था, फिर भी लड़की जैसे लक्ष्मी का रूप लेकर हो इस धरती पर आई थी। याद आया, यह छोटी थी तो ददू उसे राजलक्ष्मी की जोड़ी के लिए भाग्य-लक्ष्मी कहते थे। राजी तो सचमुच राजलक्ष्मी है पर मेरी यह अभागी बिटिया... वह नाम जैसे उसका उपहास ही बन गया था।

ददू के साथ उसे भेजकर मैं पता नहीं किननी देर सुम्मी की ही बात सोचती रही, वह पूरे चार साल बाद उस घर में कदम रख रही थी। बलग होने के बाद इन दो घरों में ही नहीं, हम लोगों के दिसाँ में भी दीवार छड़ी हो गई थी। तब से मैंने सिर्फ योगेश की शादी में ही वहां पांव दिया था। उस समय भी उपेक्षा, अपमान और तिरस्कार की ऐसी साँगात पाई थी कि दुवारा जाने की इच्छा ही न हुई थी।

फिर भी मैं होनी, दिवाली, दशहरा और मकरान्त पर बच्चों को बड़ों के पैर छूने भेजती। राखी, भाई दूज पर लड़कों को अवश्य भेजती, जिनमें कोई यह न कहे कि देने के डर से मुह छिपा गए हैं। दिया हुआ सब दुगना करके योगेश, लोकेश, सुम्मी के बहाने लौटा जाते। अजीब से सम्बन्ध हो गए थे, न छोड़ते बनता था न निभाते।

जैसे-जैसे बच्चे बड़े होते गए समझने लगे कि उस घर में वे लोग हिकारत से देखे जाते हैं। सबसे पहले सुम्मी ने बहाने से इनकार किया। दूसरे वर्ष भुनीश ने भी उसका अनुकरण किया। गिरीश और

तीश तो अभी छोटे थे पर इस साल से हरीश भी विट्रोही दल में  
मिल हो गया था ।

और कोई बुलाने आता तो सुम्मी तो आज भी न जाती । पर दद्दू  
की बात और थी । उनकी बात टाली नहीं जा सकती थी । उनके लिए  
सबके मन में एक ऊंचा आसन है । बटवारे के बाद भी उस स्थिति में  
फर्क नहीं आया । ये मुंह से चाहे जो भी कहते रहें, दद्दू की बात टाल  
दें ऐसा साहस उनका भी नहीं था ।

और झगड़ा दद्दू से था ही कब ? वर तो देवर भाभी के बीच  
था, दद्दू उतने ही निरीह थे जितनी कि मैं । और इस रोज-रोज की  
खटपट से उतने ही त्रस्त भी ।

जीजी यह देखकर चिढ़ती थी, कि लाला जी दिन भर बैठकर ताश  
खेलते हैं या सिगरेट फूंकते हैं । खानदानी कारोवार में ज़रा भी हाथ नहीं  
बंटाते । साल दो साल बाद घर में एक प्राणी की वृद्धि करना ही उनके  
पुरुषार्थ की सीमा है ।

देवर को यह कोफ़्त होती थी कि भाभी ठमक किसे दिखाती है, वे  
किसी और का नहीं, अपने बाप का माल खा रहे हैं । पर कौन समझाता  
कि बाप की कमाई कोई ज़िन्दगी भर बैठ कर नहीं खा सकता । और  
दद्दू न होते तो घर की ईंटें तक विक गई होतीं ।

और फिर एक दिन विस्फोट हो ही गया था । कारण चाहे जो भी  
रहा हो सालों से तुलसी आग को बाहर आने का मौक़ा मिल गया ।  
कहनी-अनकहनी सारी उस दिन ज़वान पर आ गई थी । और यह बात  
भी कि अब आगे साथ रहना नहीं हो सकता ।

दद्दू उस दिन भी बिल्कुल शान्त बने रहे । तुफ़ान थमने के बाद  
भाई को बुलाकर उन्होंने नगदी, सोना, चांदी सब का बराबर हिस्सा  
समूहलवा दिया । नाप-जोख करके मकान दो हिस्सों में बांट दिया । नई  
सड़क पर एक नई फेन्सी क्लाय की दुकान लेकर दे दी ।

मुझे अलग हो जाने से ज़रा भी खुशी नहीं हुई । दद्दू के बच्चे  
पर मेरी बहुत ममता थी, पर रोज-रोज की किलकिल ने छुटकारा  
पाने की राहत ज़रूर महसूस की ।

तीन महीने बीतते-बीतते इन्होंने बकना शुरू किया, “बाप दादों की दूकान तो लोग-बागों ने अपने लिए रख ली। हमें नई जगह पर बिठा दिया है। भला हमें कोई पूछता है वहां।

बात दद्दू के कानों तक भी गई और दूसरे ही हफ्ते दूकानों की बदला-बदली भी हो गई। साथ ही दोनों मकानों के बीच एक लम्बी सी दीवार भी डल गई।

मैं योगेश राजी को देखने के लिए तरम गई पर जीजी के रोज-रोज ताने भी अब नही सुन पड़ते थे।

दूकान नई हो या पुरानी, चलाने में ही तो चलती है। देखते-ही-देखते दद्दू की नई दूकान भी चल निकली। वी० काम० के बाद योगेश ने भी पास ही में एक रेडीमेड कपड़ों की दूकान खोल ली। लोकेश के लिए एक फैक्टरी खोली गई थी और वह उसकी ट्रेनिंग के लिए अमेरिका चला गया था।

अब इनको यह शिकायत है कि दद्दू के मारे पुराने ग्राहक अपनी ओर तोड़ लिए हैं। पहले-पहल तो मुझे भी इन किस्सों पर विश्वास आ जाता था। पर बाद में समझ गई कि अपनी अकर्मण्यता पर पर्दा डालने के वहाने है सब। पुराने न गही इतने दिनों में तो नये ग्राहक भी जुट सकते थे। दूकान को ताज़ का अड़्डा बना लेने का अंजाम तो यही होता है। (जो आदमी मुझे यह खबर दे गया था उसके मातों पुरखों का इन्होंने तपण कर डाला था।)

धीरे-धीरे सारी कंज चुक गई। फिर चांदी का नम्बर आया। फिर एक-एक करके मेरे गहने भी जाने लगे तब घबरा कर मैंने दद्दू के पास सन्देश भिजवाया। उन्होंने खुद जाकर दूकान का मुआयना किया और दूकान में पार्टिजन टनवाकर आधा हिस्सा एक डिस्पेन्सरी के लिए किराये पर उठवा दिया। किराया सीधा मेरे पास पहुंचे यह व्यवस्था भी कर दी। उन्होंने बहुत हाथ-तोथा मचाई। जो जी में आया बकते रहे। पर दद्दू की व्यवस्था को बदलने का साहस न कर सके। इनमें भी पूरा न पड़ा तो मैंने छत के तीन कमरे और रसोई अपने लिए रख कर नीचे का सारा हिस्सा किराये पर उठा दिया। ऊपर रहने में ढेर

ती असुविधाएं थीं। पर एक सुविधा थी सबसे बड़ी कि ऊपर वाला हेस्सा अकेला था और मेरी रसोई में क्या पकता है किसी को पता नहीं चलता था।

अपने घर में तो कोई भूखा-प्यासा भी रह लेता है लेकिन बेटी का व्याह। उसके लिए तो हाथ-पांव मारने पड़ते हैं। यह काम तो औरतों के करने का नहीं है। दिन भर घर में बैठी लड़की सूखती जा रही थी और मैं कुछ नहीं कर पा रही थी।

धम-धम पैर पटकती हुई सुम्मी लौटी तो मेरा ध्यान बटा।

क्यों री ! गए क्या वे लोग ? कैसा है लड़का ? राजी से तो ऊंचा ही बैठेगा न ? कितने लोग थे ? लड़के की मां भी थी क्या ? तमाम सवाल मैंने एक साथ पूछ डाले।

पर सुम्मी ने मेरी एक भी बात का जवाब नहीं दिया और भड़क से दरवाजा बन्द करके साड़ी बदलने चली गई। मुझे अपने ही ऊपर शर्म आई। कैसे-कैसे प्रश्न पूछ बैठी मैं ? मुझे इसका भावनाओं का ज़रा तो खयाल करना चाहिए। बेचारी का मन कितना कुढ़ रहा होगा कि ताऊजी के यहां तो इतनी दौड़-धूप हो रही है, खोजबीन हो रही है, और यहां !

अभिमान के मारे अपने भैया के आगे कभी हाथ नहीं फैलाया था। पर अब कल ही लिख दूंगी कि आकर इसे लिवा ले जायें और जैसे भी हो पार लगा दें। शुक्र है भगवान का कि एक लड़की दी। नहीं तो किस-किस के आगे हाथ पसारती ?

रात खाना परोसते हुए मैंने इनसे बताया, “आज फिर राजी को देखने आए थे।”

“बैरी गुड।” उन्होंने हंस कर कहा, “बाप ने ब्लैक में खूब जमकर कमाया है। अब छोकरी सब हिसाब बराबर कर रही है। आठ दस हजार तो अब तक देखने ही में खर्च हो गए। शादी तो अभी बाकी है।”

मुझे बात का यह ढंग अच्छा नहीं लगा। कहा, “जब संयोग बनेर तभी न शादी होगी ! बेचारे कोशिश करने में तो कोई कसर नहीं छो रहे हैं।”

“और मैं हाथ-पर-हाथ धरे बैठा हूं। यही कहना चाहती हों न

इन्होंने यकायक गरम होते हुए कहा, “ठीक तो है। मैं ददू की तरह हाई क्लास का आदमी नहीं हूँ। रोज-रोज इस तरह का आयोजन नहीं कर सकता तो तुम सोचती हो मुझे कोई फ़िक्र ही नहीं है। ठीक है तुमने मेरे बारे में इससे ज्यादा सोचा ही कब है ?” और घाली सरका कर उठ खड़े हुए। सुपारी तक बिना घाए बाहर चले गए।

मैं बड़ी देर तक वहीं चौके में सिर थामे बैठी रही। इस तरह के सौन आए दिन होते ही रहते थे और हर बार मेरा मन पहले से अधिक उदास हो जाता। जब भी राजी को कोई देखने आया, मैं इनके कानों में यह बात जरूर डालती। मन में एक आशा सी बनी रहती कि कभी तो इनके अन्दर का बाप जागेगा। पर सिवा बड़े भाई को गालियाँ देने के उनसे कुछ नहीं होता था। बहुत हुआ तो मूढ़ खराब हो जाने का बहाना करके बाहर निकल जाते और आधी-आधी रात तक घर नहीं लौटते थे।

किसी तरह अपने सोच-विचार को परे धकेल, मैंने रसोई समेटी और बिस्तर पर आकर पड़ रही। दबी-दबी सिसकियों की आवाज सुनकर देखा मुम्मी तकिये में मुँह गड़ाकर रो रही है। मैं उठकर उसके पास गई और प्यार से उसके सिर पर हाथ फेरती रही। उस छोटे से घर की अहारदीवारी में दुःख सहते-सहते हम लोगों का रिश्ता मां-बेटी का न रहकर सखियों का सा हो गया था। एक दूसरे की-व्यथा हम लोग बिना कहे ही समझने लगी थीं।

“देख लली”, मैंने उसे थपकते हुए कहा, “तू कुछ दिनों के लिए अपने मामा जी के यहां हो आ। और कुछ नहो तो इस रोज-रोज की चखचख से ही छुटकारा मिल जाएगा। बाहर रहेगी तो उतना ही मन अच्छा रहेगा।

“हमें कही नहीं जाना है।” उसने उसी तरह तकिये में मुँह छिपाए हुए कहा।

“क्यों नहीं जाना है? अभी हर चिट्ठी में तेरे लिए लिखती रही है। उन लोगों ने एक दो जगह बात भी...”

“मां”, मुम्मी एकदम उठ बैठी। नाइट लैम्प की रोशनी में उसका

मतमाया चेहरा साफ नजर आ रहा था ।” मां ! तुम्हें कसम है, जो तुमने किसी से मेरी शादी के लिए कहा । मैं कुंवारी रह जाऊंगी । तुम मेरे लिए चिन्ता मत करो ।”

“लेकिन ऐसा हुआ क्या है ?”

“क्या हुआ है ? तुम्हारे लिए तो शायद कुछ नहीं हुआ है,” उसने अजीब से लहजे में कहा, “पर तुम्हें पता है तुम्हारे इस पागलपन की वजह से आज तुम्हारा, मेरा, हम सब का कितना अपमान हुआ है ? क्यों जिस-तिस से मेरी शादी की चर्चा करती रहती हो ? क्यों कहा था तुमने दीदी से ? क्यों कहा था ?...” और देखते-देखते उसका चेहरा फेर आंसुओं से भीग उठा ।

मैं तो एकदम जड़ होकर रह गई । मैं राजी से सुम्मी की शादी की चर्चा कहूंगी ? वह कौन सी पुरखिन हो गई है ?

लेकिन तभी वह प्रसंग याद आ गया जब राजी से पिछली मुलाकात हुई थी । नवरात्र में रोज मन्दिर जाने का मेरा नियम था ।

वह शायद अपनी सहेलियों के साथ दर्शनों के लिए आई हुई थी । मुझे देखा तो दौड़ी आई और इतने लोगों के बीच मेरे पांव छू लिए । संकोच और ममता से भरकर मैंने तो उसे अपने से भींच ही लिया । आसपास दुरती हुई आंखों का भान हुआ तब मैंने धीरे से उसे अपने से अलग किया । अपने दोनों हाथों से मेरे कंधे पकड़कर वह देर तक मुझे देखती रही ।

“क्या बात है चाची ? बीमार थी क्या ? कितनी दुबली हो रही हो ? किसी को दिखाया भी था...?”

देखते-देखते वह वचपन वाली राजी बनी जा रही थी और मुझे रोना आ रहा था । उसे बीच ही में टोककर मैंने कहा, “मुझे कुछ नहीं हुआ है लली, बहुत दिनों बाद देख रही हो न, इसीलिए ऐसा लग रहा है ।”

“बेकार की बातें रहने दो चानी ! तुम सचमुच बीमार हो और छिपा रही हो । इतनी दुबली तो तुम कभी नहीं थीं । बताओ, मेरे सिर पर हाथ रखकर कहो कि तुम बिलकुल ठीक हो ।”

“दो-दो लड़कियां घर में बैठी हैं—यह मेरे मर-जाने के ही तो दिन

है, क्यों ?" मैंने प्यार से उसके गाल थपथपाते हुए कहा ।

"यही तो अन्याय है । सारी चिन्ता तुम लोग अपने सिर पर ले लेती हो और फिर लड़कियों की हालत देखो क्या हो जाती है ?" और उसने अपने भरे-पूरे शरीर की ओर देखकर मुंह विचका दिया ।

लौटते हुए सारे रास्ते मेरी आंखों के सामने राजी का गदराया बदन और गिलाखिला चेहरा घूमता रहा । और मेरी सुम्मी ? दिनभर घर की चहारदोवारी में कैद, मां की गृहस्थी का भार ढोती हुई, मां का दुख धटाती हुई सूखती जा रही है, क्रुम्लताती जा रही है...

और सुम्मी कहती है मैंने राजी से सुम्मी की शादी की बात की थी ? शायद मजाक में कही हुई उस बात में अनजाने ही मेरी ध्येया मेरी चिन्ता उभर आई थी ?

मुझे ज्यादा सोचना नहीं पड़ा । कुछ शान्त होने पर खुद सुम्मी ने ही धीरे-धीरे सारी बात बतला दी ।

मुझसे मिलने के बाद राजी ने एक दिन ददू से चुपचाप कह दिया था कि चाची सुम्मी की शादी की चिन्ता में सूखती जा रही है । ददू खुद भी चिंतित थे, पर एक बार अपमानित हो जाने के कारण इस क्षमेल में पड़ना नहीं चाहते थे ।

इस बार राजी को देखने जो लड़का आया था, वह शहर में अपनी फूफी के यहां ही रुका हुआ था । शाम को जो लोगवाग आये थे उनमें लड़के का फुफेरा भाई भी था—वही स्वेटर वाला । सब लोगों के साथ यह बात उठी कि यह लड़का सुम्मी के लिए ठीक रहेगा ।

योगेश पर मेहमानों का भार छोड़कर ददू चुपचाप पिछले रास्ते सुम्मी को बुलाने आए थे । वे जानते थे किसी और के बुलाने पर वह आयेगी नहीं ।

सुम्मी को सीधे ड्राईंगरूम में ले गए । सबसे परिचय करवाने के बाद उसे राजी के पास बिठा दिया गया था । राजी ने फुसफुसाकर उसे बता दिया था कि वह स्वेटर वाले को अच्छी तरह देख ले ।

यहां तक तो सब ठीक ही हुआ था । उन लोगों के जाने के बाद सुम्मी आने ही लगी थी कि राजी ने हाथ पकड़कर रोक लिया था ।



वरसों वाद मिली थीं वे, और उन लोगों के सामने वातचीत ज़रा नहीं हो पाई थी।

गपशप और नाश्ते में दोनों वन्हें डूबी हुई थीं कि सामने वाले कमरे से सास-बहू की वातचीत सुनाई दी, “लड़की तो लाकर दिखा दी, पर यह भी सोचा है कि कितनी ऊंची उड़ान है—” जीजी कह रही थी, “लेना-देना तो अलग उन लोगों के रतवे के लायक इत्तपान भी हो सकेगा ? वे दिन गए जब लोग खानदान भर देखकर लड़की ब्याह लेते थे।”

“तो परवाह क्या है माता जी ?” योगेश की बहू ने कहा, “जब ताऊ जी ने इतना धर दिखाया है तो शादी कर पाने का जिम्मा भी उनका ही रहा।”

ददू शायद आसपास ही कहीं थे। गरज कर बोले, “बहू, शादी का खर्च चाहे सुम्मी के ताऊ जी उठायें या उसके पिताजी तुम्हारे पीहर से कुछ नहीं मागेंगे। इतमीनान रखो।”

इसके आगे सुम्मी नहीं मुन सकी थी और राजी का हाथ छुड़ाकर भाग आई थी।

सारी बात सुनकर समझ में नहीं आया कि मुझे खुश होना चाहिए या उदास। ददू के लिए ज़रूर श्रद्धा उमड़ आई। अपनी लाड़ली नाजोंपली बहू को आज उन्होंने मेरी सुम्मी के लिए कठोर शब्द कहे थे। यह जानकर खुशी तो हुई पर डर भी लगा। उस घर का वातावरण इस घटना के बाद कैसा होगा, इसकी कल्पना की जा सकती थी। गनीमत थी कि नीचे वाली नर्स वाई इन दिनों छुट्टी पर थी। नहीं तो घर में तूफ़ान उठे बिना नहीं रहता। नर्स वाई जानती थी कि देवर-भाभी को लड़वाना कितना आसान है। मुफ्त का तमाशा देखने में किसी को क्या ऐतराज हो सकता है !

पांच-छः दिन बाद योगेश आया। चाचा जी तो घर पर नहीं हैं न ? उसने बाहर ही से पूछ लिया था।

“चाची ! उन लोगों का सन्देश आ गया है। उन्हें सुम्मी पसन्द उ गई है, आप लोग क्या कहते हैं वताइये ?” उसने बैठते ही गुरू किया।

खुशी के मारे मैं मूक सी हो गई। उसने मेरी चुप्पी का दूसरा अ

लेते हुए कहा, "लड़का जल्दी से आप को दिखाया नहीं जा सका, लेकिन वे लोग यहीं के हैं—कितनी भी दिन देख आइएगा। फोटो यह रहा। लड़का डॉक्टर है। प्रैक्टिस अभी जमो तो नहीं है पर पिता की रेस्पूटेशन अच्छी है, जल्दी ही चलने लगेंगी। आपने डॉक्टर अवध-बिहारी का नाम सुना है न? उसी का लड़का है।"

"लड़का तो अच्छा है भैया। फिर दूध खराब थोड़े ही देखेंगे।"

"ये आप कह रही हैं। हमारे यहां आकर सीधिये नुक्स कैसे निकाले जाते हैं?" उमने कहा।

"क्यों, क्या हुआ? लड़का तो अच्छा था। मैंने खिड़की से देखा था।"

मैंने अपनी ठाक-भांक वाली बात कह दी और झेंप गई। पर योगेश अपनी ही धुन में था, बोला, "इस बार जानती है क्या बात हुई? लड़के का इन्टेलिक्चुअल स्टैंडर्ड नहीं जमा मेम साहब को। वह मिलेट्री का जवान है, बी-एस० सी० पास है। पर इनकी तरह लेक्चर नहीं झाड़ता है न। इसीसे इन्हें पसन्द नहीं आया। मैंने तो चाची, आज ही दो दर्जन जूतों का आर्डर दे दिया है।"

राजी पर इतना गुस्सा आया। पिता और भाई पांच साल से परेशान हो रहे हैं पर इनके मिजाज ही नहीं मिलते। मेरी सुम्मी की सी दशा होती तो पता चलता।

रात मैंने किस उत्साह से इन्हें यह खबर सुनाई। इस बार जूठन वाला मामला नहीं था। लड़का सुम्मी के लिए ही देखा गया था। फिर भी इन्हें बिगड़ना था सो बिगड़े भी।

"वाह। बड़े जल्दी याद आया कि लड़की के बाप भी है उसे कसना चाहिए। उनसे कहो इतना किया है तो कन्यादान भी कर दें...हूँ हूँ! लड़की उन्हें पसन्द आने से ही हो जाएगा। हमें भी तो लड़का पसन्द हो।"

"लड़का अच्छा है, मैंने देखा है। शहर ही में तो है। आप जाकर देख आइए। पर घर आया इतना अच्छा रिश्ता मैं जाने नहीं दूंगी।" मैंने अनुनय के स्वर में कहा।

"जाकर देख आने से ही सब कुछ हो जाएगा? और उन लोगों ने

फाड़कर कुछ मांगा तो क्या करूं ? घर लौट आऊं या नदी में डुबकी  
गा जाऊं ?”

उस दिन पहली बार मन में उनके लिए तिरस्कार जागा । जब भी  
कोई समस्या सामने आई कि मरने जीने की बातें करने लगेंगे ।  
लेकिन हर बार की तरह यह समस्या तो समाप्त होने वाली नहीं थी ।  
यह तो लड़की की तरह दिनों-दिन बढ़ती ही जाती । उस दिन मैंने खूब  
जली-कटी सुनाई । न बच्चों का खयाल किया । न पड़ोसियों का । पर  
इतने दिनों से संचित सारा रोप उंडेल देने के बाद भी मन हल्का नहीं  
हुआ, उल्टे और भारी हो गया ।

“यह घर बेच दीजिए । एक बार वह घर से चली जाए तो मैं  
बच्चों को लेकर सड़क पर भी रह लूंगी ।”

मैंने आखिर में कहा, पर कहते याद आया, यह घर भी कहां अपना  
था ! आधे से ज्यादा तो रहन पड़ा था ।

शक हार कर मैं जाकर अपने विस्तर पर लेट रही । क्या पाप  
किया था मैंने जो ज़िन्दगी भर इस अकर्मण्य आदमी के पल्ले बंध गई  
थी ? गरीबी से मुझे डर नहीं लगता । अपने पति का साथ हो तो  
झोंपड़ी भी अच्छी लगती है, नमक-रोटी में भी स्वाद मिलता है । फिर  
दसवीं तक पढ़ी हुई थी मैं । इनकी रईस खयाली आड़े नहीं आती तो  
गृहस्थी का बोझ उठाने के लिए नौकरी भी कर सकती थी । दुःख का  
बोझ अगर बांट लिया जाए तो इतना भारी भी नहीं लगता । पर  
इन्होंने ज़िन्दगी भर क्या किया ? सिर्फ दूसरों को कोसा ही है । कभी  
ददू को कि उन्होंने ठग लिया मुझे, इसलिए कि मेरे आते ही लक्ष्मी  
उनसे रूठ गई थी । कभी बच्चों को कि वे अपने साथ भूख और बीमारी  
के अलावा कुछ नहीं लाए । जीवन में एक तो ऐसा काम करके दिखाते  
कि मैं गर्व से सिर उठाकर चलती ?...

एक दिन सुबह-ही-सुबह मुनीश ने ख़बर दी कि ददू आ रहे हैं  
हम लोग रसोई में चाय पी रहे थे । बाहर वाले कमरों में विस्तर फै  
हुए थे । मैंने और सुम्मी ने जल्दी विस्तर समेटे । तब तक ददू ज  
आ गए । वगुले के पंख सी धोती-कुर्ता पहने भाथे पर चन्दन का टी

सगाए। सीधे मन्दिर में आ रहे थे शायद। मैंने सिर पर पल्ला लेकर उनके पांव छुए और इन्हें बुलाने भीतर गई। जंगी व अंडरवीयर पहने ये चूल्हे के पास भजे में ताप रहे थे। मन-ही-मन भाइयों की तुलना कर डाली और विषाद से भर उठी।

“बाहर ददू बैठे हैं।” मैंने पाजामा पकड़ाते हुए कहा, “और जरा दंग से ही बोलना।” उनके गुस्से की परवाह किए बिना मैंने समझाया। वे कमरे में चले गए। मैं दरवाजे से कान लगाये खड़ी रही।

“योगेश मिला था?” ददू ने सवाल किया।

“जी हाँ।”

“उस रिश्ते के बारे में क्या तय किया तुमने?”

“जी मैंने योगेश को बता दिया था। लड़का हमें पसन्द नहीं है।”

मैं तो दंग रह गई। इन्होंने बाहर ही बाहर इम तरह जवाब भी दे दिया और मुझे बताया तक नहीं। दुःख और शोध से मेरा सारा शरीर कांपने लगा।

उधर ददू ने प्रश्नों की झड़ी लगा रखी थी। “कितने पसन्द नहीं है? तुम्हें? वहू को या सुम्मी को? नापसन्द करने जैसा उसमें क्या है? रंग-रूप, विद्या, बुद्धि, कुल, गोत्र किस चीज में तुम्हें दोष नजर आया?”

जीवन में पहली बार मैंने ददू के सामने बोलने का साहस जुटाया, “जी लड़के में तो रस्ती भर भी दोष नहीं है। इतने ऊँचे घर में सम्बन्ध करने से संकोच हो रहा था इसीसे...”

“तो हमारा घर भीचा है?” ददू गरजे, “रही दान-दहेज की बात तो कोई उनके दरवाजे तक गया भी है पता लगाने?”

“वे दान-दहेज न भी लें तब भी यह शादी नहीं हो सकती। मेरी इतनी हैसियत नहीं है।” बड़ी देर बाद इन्होंने मुह खोला।

“तुम अगर सोचते हो कि कोई नारियल-सुपारी के साथ तुम्हारी बेटी ब्याह कर ले जाएगा तो भइये, हिन्दुस्तान में अभी पचासो साल तक वह दिन नहीं आएगा।” ददू ने कहा।

“जी मैं चाहता भी नहीं कमालों की तरह शादी करना। बस जरा सुविधा जुटा रहा हूँ।”

“तुम जिस तरह से सुविधा जुटा रहे हो उसके इन्तजार में तो लड़की बूढ़ी हो जाएगी। भइये, फूस की आग पर तापना बड़ा मुश्किल है। जुआ, चाहे सरकारी लौटरी का हो या मटके का—किसी का घर नहीं भरता। मैंने लोगों को रातोंरात कंगाल होते देखा है।” भावावेश में उनका गला भर आया। वे शायद और भी कुछ कहते पर इनके तमतमाये चेहरे को देखकर चुप रह गए। पत्नी के सामने इस तरह अपमानित होना इन्हें शायद अच्छा नहीं लग रहा था।

“खैर, जैसे भी तुम ठीक समझो। वहू ! ये पासबुक रखो। ये पैसा सिर्फ सुम्मी की शादी के लिए ही रख छोड़ा था। यह रिश्ता पसन्द नहीं तो कोई बात नहीं, दुनिया में और भी लड़के हैं। लेकिन सिर्फ पैसों की तंगी के कारण लड़की को ज्यादा दिन तक घर में बिठाकर तो नहीं रख सकते हम।”

उन्होंने पासबुक तिपाई पर रखी ही थी कि ये कड़े स्वर में बोल उठे, “ये आप ले जाइए। गरीब सही हम लेकिन भिखारी नहीं हैं।”

“मैं भी कोई महात्मा नहीं हूँ जो तुम्हें दान दे रहा हूँ।” ददू ने भी कड़ककर जवाब दिया, “गांव का मकान बेचकर जो रुपये हाथ आए थे—उनमें से आधे तुम्हारे नाम पर डाल दिए थे। उन पर तो अपना अधिकार मानते हो कि नहीं?”

“आपने तो बतलाया था कि वह मकान अस्पताल के लिए धर्मार्थ दे दिया है,” ये बोले।

“अभी कहा न कि मैं कोई धर्मात्मा नहीं हूँ, व्यापारी आदमी हूँ। इतती बड़ी हवेली यूँ ही दान कर दूँ ऐसा सन्त नहीं हूँ।”

“ये बात मुझसे छिपाये रखने की क्या जरूरत थी?” इन्होंने खर खर पूछा। पर ददू ने कोई जवाब नहीं दिया। गोद में रखी बच्ची सिर पर रखकर सोढ़ियाँ उतरने लगे और जवाब देने की जरूरत थी? क्या ये स्वयं ही अपने प्रश्न का उत्तर नहीं थे? कांपते हाथों में पासबुक उठा ली।

उसमें रुपया जमा करने की तारीख उसी महीने के अगले महीने थी जिस महीने में हम लोगों का बंटवारा हुआ था।

## घर

पिछू ने पिल्ले को इतनी बेरहमी से जमीन पर दे पटका कि दीपू का नन्हा-सा मन करुणा से पसीज उठा। इच्छा हुई कि पिछू को कमकर एक आपड़ लगाए। पर पिल्ले को गोद में समेटते हुए, उससे बम इतना ही कहते बना, "ऐसे मारा जाता है कहीं। गुंथा जानवर है बेचारा। देख लेना, भगवान जी तुम्हें खूब पाप देंगे।"

लेकिन इतनी-सी बात पर भी दोनों भाई-बहन उस पर चढ़ बैठे, "बड़ा आया भगवान जी का भगत। हमारा पिल्ला है, हम मारेंगे। हबार बार मारेंगे। मार डालेंगे, तुम बीच में बोलने वाले बौन होते हो।"

दीपू का सारा आवेश ठण्डा पड़ गया। पिल्ला कब उसके हाथ से छिन कर पारुल के पास चला गया, इसका भी उसे होश न रहा। किसी अनाम दुःख से मुबकता हुआ वह मम्मी के पास दौड़ गया। उनकी गोद में मुंह छुपाते हुए बोला, "मम्मी, हमें भी एक कुत्ता सा दीजिए न। प्लीज।"

मम्मी हस्वे-मामूल किताब पढ़ रही थी। दीपू की गुहार उनके कानों तक पहुंची ही नहीं। खीज कर उसने किताब पोंच ली।

"क्या है रे ! क्यों तंग कर रहा है ?" मम्मी बीखीं।

पढ़ते समय कोई परेमान करे तो उन्हें बहुत गुस्सा आता है, पर दिन भर ही तो पढ़ती रहती हैं। अपनी बात कोई कहे भी तो कब ? कालेज क्या जाने लगी है, दीपू की तो मुसीबत हो गई है !

"अब बोल न, क्या बात है ?"

"हमें एक कुत्ता चाहिए", उसने कुनमुनाते हुए अपनी फरमाइश पेश की।

“लकी है तो।”

“वह तो पिण्डू का है।”

“तो क्या सबके लिए अलग-अलग कुत्ते आएंगे। वह मकेला ही तो भर की नाक में दम किए रहता है।”

“लेकिन पारुल पिण्डू हमें छूने भी नहीं देते। हमें तो अपना वाला चाहिए।”

“चाहिए तो, पर रखोगे कहां? अपना सिर छुपाने के लिए तो ढंग की जगह नहीं,” मम्मी ने भुनभुना कर कहा।

दीपू ने अपने चारों ओर देखा। मम्मी ठीक ही तो कहती हैं। कित्ता छोटा-सा तो कमरा है। वो तो दीपू की खटिया दिन भर मम्मी के पलंग के नीचे बनी रहती है। नहीं तो हिलने की भी जगह न रहे। नानी का पूजा वाला कमरा तो है। उनकी खाट और ठाकुर जी तो अब स्टोर में पहुंच गए हैं। नहीं तो शायद इसी कमरे में उनकी खुल्ल-खुल्ल खांसी भी रात भर सुननी पड़ती।

मम्मी तो फिर से अपनी पुस्तक में खो गई थीं। दीपू उनकी गोद में पड़ा-पड़ा सोचता रहा। फिर कुछ देर बाद ऊब कर बाहर चला आया। कम्पाउण्ड में पिण्डू के दोस्त जुड़ आए थे। शायद क्रिकेट खेलेंगे। अपमान का घाव ताजा था, इसीलिए वह चुपचाप बरामदे में खड़ा निमन्त्रण की राह देखता रहा। लेकिन पिण्डू के पास ढेर-से साथी थे, वह नक्कू क्यों बगने लगा। उनका खेल मजे में शुरू हो गया—फिर वहां खड़े रहना दीपू को बड़ा दयनीय-सा लगने लगा।

वह हाल में चला आया। गोल मेज पर ढेर सारी पत्रिकाएं पड़ी थीं। उन्हें लेकर वह सोफे पर बैठ गया और तसवीरें देखने लगा। स का बच्चों वाला पेज उसने पढ़ डाला, कविताएं रट लीं, पहेलियों उत्तर याद कर लिए। अब कोई कुछ पूछेगा तो पिण्डू और पारुल ताकते रह जाएंगे। “राजा बेटा” तो दीपू ही बनेगा।

“इशू-शू दीपू जी, सोफे पर पैर लेकर नहीं बैठते। कितनी बार किया है।”

उसने चाँक कर देखा—मामी जी पता नहीं कब कमरे में

थीं। पता नहीं कब उसने पैर ऊपर कर लिए थे, अनजाने में ही हो जाता है सब। वह चुपचाप बैठा अपराधी भाव से मामी जी को देखता रहा, जो यहां-वहां से कागज के टुकड़े बीन रही थीं।

“मामी जी,” उसने साहस बटोरने हुए कहा, “पिण्डू हवाई-जहाज बना रहा था। यह कबरा उसी का फैलाया हुआ है।”

“कोई भी फैलाए बैठा, डांट तो हमी को खानी है।” मामी जी ने कसीले स्वर में कहा तो उसे लगा व्यर्थ ही अपनी सफाई देता रहा वह। मामीजी को आजकल उसकी कोई भी बात अच्छी कहा लगती है। पहले वाला लाड़-प्यार जाने कहां चला गया।

होता क्या है कि बच्चे चाहे सड़ाई करें, चाहे शरारत, नानीजी उसका पक्ष ले लेती हैं और डांट पड़ती है पिण्डू पर, पाकस पर। मामीजी भी अपने बच्चों को ही धुड़क देते हैं। उसमें कोई कुछ नहीं कहता। इसीलिए हर बार मामीजी का मुंह फूल जाता है। बच्चे भी उसमें बंट जाते हैं। इससे तो अच्छा है, थोड़ी डांट पड़ जायें। तब इतना अकेला तो नहीं पड़ जाएगा वह।

इससे तो सचमुच गांव में अच्छा लगता था। डांट पड़ती तो सबको एक साथ, दादाजी युग हो जाते तो सबको एक-एक चवन्नी इनाम मिलती। तब कुल्फ्री वाले की राह देखने में कितना मजा आता। दूर से उसकी साइकिल की घण्टी बजती और सब दौड़ पड़ते।

यहां तो कुल्फ्री का नाम भी ले तो तो श्रवण हो जाए।

गांव में सचमुच आनन्द था। खूब सम्बा-चौड़ा घर। दूर-दूर तक फैले खेत। बच्चे कहां समा जाते, पता ही नहीं चलता। मजे में कुएं पर नहा रहे हैं, गन्ना चूस रहे हैं, पेड़ से कच्ची अमिया तोड़ रहे हैं—कोई रोकता नहीं था। न दिन भर जूते-भीजे पहनने की बन्दिश थी, न बार-बार “सॉरी” और “थैंक्यू” कहने का संसट। डाईनिंग-टेबल पर करीने से बैठकर तमीज से खाना खाने का सिर-दड़ें भी नहीं था। बस, जब भी भूख लगी, दादी के गले में बांहें डाल दीं, या ताईजी की माड़ी से लिपट गए। क्रोरन मम्मी को हुक्म हो जाता और वह चुपचाप वाली लगाकर



आतीं ।

यहां तो डांटने ही लगती हैं, "जाने कौन-से अकाल से चला आया है । दिन भर भूख-भूख ही चिल्लाया करेगा ।" अब उसे बार-बार भूख लग आती है, तो वह क्या करे !

अंग्रेजी स्कूल की समस्या न होती तो वह गांव में ही बना रहता । मम्मी चाहे यहां चली आतीं । यहां उसे जरा अच्छा नहीं लगता । मम्मी सुबह कालेज चली जाती हैं, दिन भर या तो पढ़ती हैं या बुनाई लेकर बैठ जाती हैं । पापा को लम्बी-लम्बी चिट्ठियां लिखने का काम और पाल लिया है । अब दीपू को भूख लगती है, तो वह किससे कहे ! मामी-जी के पास जाने की हिम्मत नहीं पड़ती । नानी मां लाड़ तो सब करती हैं, पर उनसे होता-हवाता कुछ नहीं । बस बैठे-बैठे आर्डर दिया करती हैं । मम्मी ने तो जैसे किचन में जाने की कसम ले रखी है । यह भी नहीं होता कि एकाध बार नानी की चाय ही बना दें ।

कभी कभार मम्मी रसोई में चली जाया करें तो दीपू की भी पहुंच यहां हो जाए । कितने दिन हो गए हैं, उसे आटे की लोई से चिड़िया बनाए हुए । भिण्डी के ढंठलों से दीवार पर चित्रकारी करना भी वह जैसे भूलता जा रहा है । ताजे उबले आलू में नमक लगा कर खाने की बड़ी इच्छा होती है, पर मन मार कर रह जाता है । कढ़ाई में सिकते हुए मूंगफली के दानों की सुगंध से उसके मुंह में पानी भर आता है । पिण्डू उसके हिस्से के चार-छह दाने उसे पकड़ा भी जाता है, पर उसने मन कहां भरता है । मन में तो यही लगा रहता है कि इस पिण्डू वच्चे ने जरूर बेईमानी की होगी ।

नारियल की गरी कसने के बाद जो सफेद-सफेद-सा मीठा हिस्सा बच रहता है, घर पर हमेशा उसके ही हिस्से में आता था । पर यहां तीन-तीन दावेदार मौजूद हैं । उसे पिण्डू की तरह झपटना भी तो आता । मम्मी का डर बना रहता है । फिर "पेटू" कहलाने की चिन्ता भी हमेशा सिर पर सवार रहती है । सोफे पर पांच रख दो तो कैसे-कैसे देखने लगते हैं । फिर खाने के लिए ज़िद करना तो बहुत बात है ।

होमबर्क करते-करते वहीं विस्तर पर पसर गया था वह । थोड़ी देर बाद आंघे घुली तो देखा मम्मी भीसे के सामने खड़ी झूठा बांध रही है ।

“वहां जा रही हो मम्मी ?”

“जाना कहां है रे, यू ही घूमने ।”

“हम चलें ?”

“चलो ।”

फटाफट तैयार होकर बड़ बाहर आया तो देखा पिण्टू और पारल मम्मी से झूल रहे हैं, “बुआ पार्क जा रही हो । हम भी चलेंगे ।”

और बस मम्मी ने “हां” कर दी । दोनों उछलते हुए कपड़े बदलने चले गए । इतना गुस्मा आया उसे । “मना क्यों नहीं कर दिया ?” उसने मुंह फुलाकर कहा ।

“अरे बाह ! ऐसे मना करते बनता है पणले !”

“हमसे कुट्टी है दोनों की ।”

“दिन में दस बार तो तुम्हारी कुट्टी होती है । अच्छा चलो, हम दोस्ती करवा देंगे ।”

दोस्ती हो तो गई, पर घूमने का सारा मजा बिरकिरा हुआ गया । थोड़ी देर को मम्मी के साथ एक अलग दुनिया बसाने की सोच रहा था । सब चौपट हो गया । अब पूरे रास्ते पिण्टू पटर-पटर बोलता जाएगा । पारल तो ऐसे चिपट जाएगी जैसे उसकी अपनी मम्मी हो । पार्क में मम्मी कहानी भी सुनाएगी तो पारल गोद में चढ़ी रहेगी ।

रायसे ज्यादा मुसीबत यह है कि ये लोग साथ में होते हैं तो मम्मी कुछ भी नहीं खिलाती । घर पर तो कभी जी भर कर खा नहीं पाता दीपू । पार्क में जरूर छोड़ी-सी ज़िद कर लेता है । मम्मी फिर कभी-कभार ले भी देती है । पर ये लोग साथ में होते हैं तो झट घर चुगली कर देते हैं । न भी करें तो अगले ही दिन किसी का गला घराब हो जाता है, तो किसी का पेट । बस, मामाजी प्रौरन ताड़ जाते हैं । “कल बुआजी के साथ पिकनिक मनी होगी । क्यों ?” वह कहते हैं और सगे हाथ मम्मी को भी एक हत्की-सी डाट पिला देते हैं ।

पता नहीं कैसे लोग हैं ? ज़रा-सा कुछ हज़म नहीं कर सकते । दीर

ने खिलाकर देखे कोई। सच, पापा में यह बात अच्छी है। खूब  
आएंगे—खूब खिलाएंगे। मम्मी टोकेगी तो डांट देंगे—खाने दो उसे,  
अपनी तरह नाजुक-मिजाज मत बनाओ।

अब तो पापा भी चाट-पकौड़े खाने के लिए तरस गए होंगे। वहां  
तो ये सब चीजें क्या मिलती होंगी। वैसे उस दिन तो मामाजी बतला  
रहे थे कि अब तो लन्दन में ढेर सारे हिन्दुस्तानी होटल खुल गए हैं।  
सब तरह का खाना मिलने लगा है। मतलब पापा वहां भी मजे कर  
रहे होंगे और दीपू यहां हिन्दुस्तान में भी कुछ चीजों के लिए तरस  
गया है।

पार्क में गीली घास पर बैठा वह यही सब सोचता रहा और कुढ़ता  
रहा।

“पापा कब आएंगे मम्मी?” रात को उसने रोज़ की तरह मम्मी  
की गोद में दुबकते हुए पूछा।

“क्या पता कब आएंगे? मैं तो इतना बोर हो गई हूँ।”

“कहीं चलो न मम्मी।”

“कहां चलेंगे बेटा?” मम्मी ने हताश स्वर में कहा। सच तो था,  
कहां जाएंगे! मौसी के यहां अभी पिछली छुट्टियों में ही तो होकर  
आए हैं। बार-बार जाना क्या अच्छा लगता है। फिर?

ले-देकर एक गांव ही रह गया है। दीपू की तो वहां मौज़ रहती  
है। पर मम्मी बेचारी बड़ी परेशान हो जाती हैं। कहने को इतना बड़ा  
घर है, पर ढंग का एक कमरा भी नहीं। न बिजली है, न नल, बस  
गर्मी में तपते रहो। पानी तो ख़ैर महरौ लाती है, पर ढंग का बाथरूम  
तो हो। मम्मी हर बार अपना ट्रांजिस्टर ले जाती हैं, पर सुनने का  
समय ही नहीं मिलता। किताब तो वहां वह छूती तक नहीं। बस दिन  
भर ताईजी के साथ रसोई में घुसी रहती हैं या गांव की औरतों से घिरी  
दादी के पास बैठी रहती हैं। खूब आगे तक सिर ढके चुप-चुप रहने  
वाली यह मम्मी कितनी अजनबी-सी लगती हैं। कितनी बेचारी-सी।

न। अपनी खुशी के लिए मम्मी को परेशान नहीं करेगा वह।

“अपने घर कब चलेंगे मम्मी।”

“अपने घर पापा तो आ जाएं ।”

“पापा कब आएंगे ?”

बस धूम फिर कर वही प्रश्न—पापा कब आएंगे मम्मी ?

आखिर पापा की वह चिट्ठी आ ही पहुंची, जिसका इतनी बेमित्री से इन्तजार था । कितना खुश था दीपू उन दिन । सारे घर में नाचना हुआ था रहा था—अब तो हम अपने घर आएंगे ।

मामीजी से आखिर न रहा गया । पूछ ही लिया, “दीपूजी यह घर किमका है फिर ? तुम्हारा गृही है ?”

“न” उसने बेतकल्लुफी से कहा, “यह तो पिष्टू लोगों का है । हमारा तो भोपाल में है ।”

“भोपाल को भूल आओ बेटे । अब कलकत्ता की बात करो ।” मामाजी ने पीठ घपघपा कर कहा । पर कलकत्ता की कल्पना उसे गुदगुदा न सकी । उसके मन-प्राणों में तो वही पुराना घर बसा हुआ था ।

पापाजी को लिवाने मामाजी के साथ दीपू और मम्मी दोनों बम्बई गए थे । हवाई-जहाज देखने की उसकी बरमाओं की तमन्ना पूरी हुई थी और वहां तो इतने ढेर भारे हवाई-जहाज थे । वहां उतने सारे लोगों में दूर ही खड़ा रहा । पापा को पहचान भी न सका । पास आने पर भी कुछ देर तो संकोच में दूर ही खड़ा रहा । आखिर पापा ने ही उसे गोद में उठा लिया, “कितना लम्बा हो गया है रे ।” उन्होंने प्यार से उसे चूमते हुए कहा ।

वह धीरे-धीरे पापा के गालों को छूकर देखता रहा । फिर धीरे-से बोला, “पापा ! अपन अब घर चलेंगे न ?”

पापा उसके लिए ढेर-सारे खिलौने लाए थे । फरवाला कोट, रंगीन स्वेटर, तस्वीरों वाली रंगीन किताबें खुशी का जैसे पूरा सामान ले आए थे । पर सबसे बड़ी खुशी थी तो बस घर जाने की । अपने घर जाने की ।

पापा आए तो मेहमाननवाजी का एक लम्बा दौर शुरू हो गया । कभी किसी के यहां खाने पर जाना है, तो कभी किसी के यहां चाय पर । दो-चार पार्टियां तो मामाजी ने ही दे डाली । दीपू बुरी तरह बोर

गया था। इन लोगों को दो साल से देखते-देखते तंग आ चुका था।  
किसी कोई आकर्षण वाक्की नहीं था। लगता था, पापा पता नहीं कितनी  
मम्मी छुट्टी लेकर आए हैं। घर चलने का नाम ही नहीं लेते।

मामाजी के यहां से चले तो सीधे गांव पहुंचे। वहां भी तो इन्तजार  
हो रहा था। दादी ने पता नहीं कितनी, कैसी-कैसी पूजा भाख रखी थी।  
गांव पहुंचते ही वह खटराग शुरू हो गया। मिलने वालों का यहां भी  
तांता लगा रहा। पापा इंग्लैण्ड क्या हो आए, जैसे अजूबा बन गए।  
दादी तो उन्हें ऐसे देखती कि बस। रोज शाम को नज़र उतारी जाती।  
मम्मी कोने में छिपकर हंसती रहतीं।

राम-राम करके चलने का दिन आया तो सबकी आंखें गीली हो  
रही थीं। पर दीपू का मन बल्लियों उछल रहा था। वह अपने घर जा  
रहा था। वहां मेज़ पर चढ़कर "हाइजम्प" लगाएगा। बाल्कनी पर  
घुड़सवारी करके मम्मी को डराएगा, रेडियो के सुर में सुर मिलाकर  
गायेगा—ये सारे काम उसने कब से मुलतवी कर रखे हैं।

पर मम्मी के साथ उस कबूतरखाने में प्रवेश करते ही उसका मन  
बैठने लगा। "यह क्या मम्मी? यह अपना घर नहीं है!"  
"यही है बेटा। यह कलकत्ता है। यहां ऐसे ही छोटे-से घर में रहना  
पड़ेगा।"

घट् तेरे की। क्या सोचा था और क्या निकला? दूसरे दिन ही  
टूक आ गया था।

धीरे-धीरे सामान खुलने लगा तो हर्ष और विस्मय से उसकी बांछें  
खिल गईं। वह हर चीज को सूंघता रहा। मम्मी छत पर गद्दे सुखाने  
लगीं, तो उन पर लोट-पोट होता रहा। दो साल तक बन्द रहने के बाद  
भी उत्तम एक परिचित महक बच गई थी। यह महक, यह गन्ध दी  
के मन में सोई यादों को तरोताजा कर गई। मम्मी पर भी जैसे जा  
हो गया था। दिन भर बनी-संवरी, लेकिन गुमसुम रहने वाली मम्मी  
गुनगुनाती हुई काम में जुट गई थीं। सलबटों पड़ी साड़ी और बिख  
विखरे वालों में मम्मी एकदम घरेलू लग रही थीं।  
पापा दनादन पैकिंग खोलते जा रहे थे। मम्मी सामान धो-पोंछ

जमाती जा रही थीं। दीपू उन दोनों के बीच फुदकता छोटे-मोटे काम कर रहा था।

शाम तक किचन सही शक्ल में आ गया था। ड्राइंग-रूम भी बैठने के लायक हो गया था। दोनों हाथ ऊपर उठाकर पापा ने एक लम्बी-सी जमुहाई ली और ऐलान कर दिया कि बाकी काम कल किया जाएगा। और यह भी कि रात का खाना होटल में खाएंगे।

एकदम घर में उत्सव का-सा वातावरण बन गया। उसके हाथ-मुंह धूब अच्छे-से धुलवा कर मम्मी ने उसे नये लन्दन वाले कपड़े पहना दिए और खुद नहाने चली गई। पापा वाश-बेसिन के सामने खड़े होकर 'शेव' बनाने लगे।

नाइट-सूट पहनकर शेव बनाते पापा उसे बड़े अपने-से लगे। उनका यह रूप तो वह भूलता जा रहा था। जब से आए थे पापा मड़िया सूट में सजे-धजे ही घूम रहे थे। लोगों से धीमी-धीमी आवाज में बात करते पापा, नानी के सामने बड़े अदब-क्रायदे से रहने वाले पापा, उसे मेहमान-से ही लगे थे। गांव जाने पर सूट तो उतर गया था, पर लोग-बागों से घिरे, बुन्देली घोलते हुए पापा बड़ी दूर की चीज लगते। कभी दादी की गोद में सिर रखकर बैठ जाते तो कभी साईजी के पल्लू से हाथ पोंछते लगते—उस समय वे बिल्कुल बच्चों के से लगते, पापा तो बिल्कुल ही नहीं।

“सुनो।” मम्मी नहाकर आ गई थी, “वह गीजर ठीक से काम नहीं कर रहा।”

“देख लूंगा अभी।”

“गैस कम्पनी को कल याद करके फोन तो कर दोगे न।”

“यस, वाय आन मोन्स।”

“दीपू के स्कूल का क्या करें? मिड सेशन के एडमीशन तो मिल जाएगा न?”

“देख लेंगे। डेरो स्कूल हैं यहां। कहीं-न-कहीं तो मिल ही जाएगा।”

“कहीं-न-कहीं नहीं जी, अच्छा स्कूल चाहिए। अच्छा, दूध का क्या करेंगे? डेरी वाले घर दे जाते हैं क्या?”

“पड़ोस में पूछ लो।”

“काम के लिए भी किसी को तलाशना होगा। कोई छोकरा या

आया।”

“ओफ़फ़ो। क्या यह सब आज की ही तारीख़ में तय हो जाना जरूरी है?” पापा एकदम झल्ला पड़े, “और क्या हर काम मुझे ही करना होगा। कम-से-कम महरी का इन्तज़ाम तो तुम कर सकती हो। अड़ोस-पड़ोस में शरीफ़ लोग बसते हैं। जाकर पूछ लो।”

मम्मी तो एकदम सुबकने ही लगीं।

“ओफ़फ़ो।” पापा ने बेजारी से कहा और मम्मी के पास चले आए। एक गाल पर साबुन का झाग फैला हुआ, दूसरा सफ़ाचट। पेट्रीकोट-ब्लाउज़ के ऊपर तीलिया लपेटे मम्मी, शंकरजी की तरह बालों का जूड़ा बनाया हुआ। सच, देखकर इतनी हंसी आई दीपू को।

वह बाहर गैलरी में आकर देर तक हंसता रहा। मन इतना हल्का हो गया था।

घर अब सचमुच घर बनता जा रहा था।

## उफान

पोस्टमैन की आवाज सुनकर मांजी बाहर आई। दो चिट्ठियाँ थी, दोनों ही बहू की थी। एक उनके लिए, एक हरीश के लिए। हरीश का लिफाफा उन्होंने उसकी दर्राज में रखकर इतनी जोर से उसे बन्द किया, मानो अपना सारा रोप उसी निर्जीव लकड़ी के टुकड़े पर निकाल रही हों। फिर अपना वाला काढ़ें टुकड़े-टुकड़े करके खिड़की से बाहर फेंक दिया। एक बार पढ़ा भी नहीं।

उनका बस चसता तो हरीश की चिट्ठी का भी वही हाल होता। शुरु-शुरु में दो-तीन चिट्ठियाँ उन्होंने सचमुच ग्रायब कर दी थी। हरीश दफ्तर से लौटकर रोज दर्राज देखता, फिर चुप रह जाता। एक दिन बाज़िर उसने बहू ही दिया, “अम्मा, मैं दफ्तर के पते से चिट्ठियाँ मंगाया करूं तो तुम्हें बुरा तो न लगेगा।”

हरीश एकदम अपने पिता पर गया है। वाद-विवाद के फेर में नहीं पड़ता। जो कुछ कहना है एक शब्द में कहकर चुप हो जाता है।

वे लेकिन शर्म से पानी-पानी हो गई थी। अपने इस घुम्ने लडके के सामने अपनी चोरी पकड़े जाने का अहसास उन्हें बहुत दिनों तक घेरे रहा था। तब से चिट्ठियाँ चुपचाप दर्राज में पहुँचने लगी।

बहू की चिट्ठी को वह हवा पर सवार होकर इधर-उधर होते देखती रही। मुआ काढ़ें जल्दी से उड़ता भी नहीं। इससे तो शाम को सिगड़ी के नीचे छाल देती तो ठीक था। पर उतनी देर भी उसे अपने पास रखने की उनकी हिम्मत नहीं पड़ी। सगता था, पास रहने पर वह पढ़ने का सोम संवरण न कर पाएंगी। तब बहू की शहद भीनी वान



अपने साथ वहा ले जाएगी ।  
 अपनी मिठवोली बहू को याद आते ही मन न जाने कैसा होने  
 ? उसकी पहली चिट्ठी आई थी तब वह पूरे मौहल्ले में दिखाती  
 री थी । बहू के पीहर जाने पर इन्हीं चिट्ठियों के सहारे तो वह उनके  
 स बनी रहती । राम-श्याम के जन्म के बाद से तो उनका मोह इतना  
 बढ़ गया था कि आठवें दिन चिट्ठी नहीं आती तो वे बेचैन हो उठतीं ।  
 हरीश के पास पत्र आता तो वे दिनभर घड़ी की ओर देखती रहतीं ।  
 पत्र से लौटकर हरीश ज्योंही पत्र खोलता, वे वहीं पहुंच जातीं और  
 अधीरता से पूछ बैठतीं, “क्यों रे, क्या लिखा है उसने ?”  
 तब हरीश बेचारा लड़कियों की तरह शर्म से लाल हो उठता और  
 अपनी बेवकूफी पर मांजी खुद ही झेंप जातीं ।

बहुत पुरानी बातें तो नहीं हैं ये फिर भी लगता है पता नहीं कब  
 का किस्सा है यह सब । पता नहीं उनकी ममता का, स्नेह का सरना  
 एकाएक कैसे सूख गया ! बहू के भाई की शादी में क्या गई कि अपनी  
 सारी खुशी ही लुटाकर लौटी थीं वह ।

कितनी मनुहार कर-करके बुलाया था समधीजी ने । कितने आदर  
 मान के साथ स्वागत किया था, कैसी-कैसी खातिर की थी । लौटीं तो  
 कितना-कितना सामान दिया था !

नई भाभी के साथ कुछ रोज रह लेने के वहाने बहू वहीं दिल्ली में  
 रह गई थी । मांजी और हरीश लौट आए थे । रात को पहुंच की  
 चिट्ठी लिखते हुए हरीश ने पूछा था, “छाया के पापा को चिट्ठी लिख  
 रहा हूं । तुम्हारी ओर से आशीष वगैरह तो लिख दिया है । और कुछ  
 लिखवाना है ।”

वे चुप ।

“कब तक भेजने के लिए लिख दूँ ?” हरीश ने फिर पूछा । वे जैसे  
 फट पड़ीं—“लिख दे, अपनी लाड़ली को वहीं रख लें । यहां भेजने की  
 कोई जरूरत नहीं है ।”

हरीश सुन्न रह गया था ।

“क्या बात है अम्मा ! किसी ने कुछ...मेरा मतलब है, तुम्हारा

अपमान किया है किसी ने ? मेरे खयाल से उन लोगों ने... क्या तुम्हारी खातिर में कुछ कमी रह गई ? लेने-देने में कुछ कसर रह गई क्या ? हुआ क्या है आखिर ?”

“लेने-देने में, खातिरदारी में कमी क्यों होगी भला । बड़े आदमी जो हैं । पर हम भी कोई भिखारी नहीं हैं कि रुपयों से हमारी झोली भरकर वे हमें चुप कर देंगे ।”

“भगवान के लिए, अम्मा कुछ बताओ भी !”

तब मांजी ने हरीश को सब कुछ बताया था । शादी में ठेर-कै-ठेर रिश्तेदार इकट्ठे हुए थे । सब के तो नाम भी उन्हें याद नहीं । उन्हीं में से एक महिला ने उन्हें बतलाया था कि छाया का कॉलेज के किसी लड़के से प्रेम हो गया था । दोनों ने भागने की भी योजना बना ली थी । छाया तो स्टेशन पर पहुंच भी गई थी, पर लड़का ऐन मौके पर हिम्मत हार गया । और समय रहते छाया को घर लौटाया जा सका था । तभी न इतनी दूर जाके लड़की ब्याही है । और मांजी बेचारी अब तक इसी भ्रम में थी कि उनके लड़के की कीर्ति इतनी दूर से लड़की वालों को खींच लाई है ।

सारी बात सुनाने के बाद मांजी ने सोचा था कि हरीश उबलेगा, बफरेगा, चीखेगा । पर ऐसा कुछ नहीं हुआ, वह उसी तरह शांत बैठा रहा । मांजी जब जी भरकर दिलसी वालों को कोस चुकी, तब वह धीरे से बोला, “अब तुम्हारा क्या विचार है ?”

“विचार ? क्या होगा ?” उन्होंने हैरत से कहा, “सब कुछ जान लेने के बाद भला अब उस लड़की को घर में ला सकते हैं हम ? दर-दर बात कोरट-कचहरी तक जाय अच्छा नहीं लगता । पर दूसरा इन्तजाम क्या है ? शादी से पहले पता चल जाता तो और बात थी”

“मुझे पता था ।”

“क्या ?”

“ठीक कह रहा हूं अम्मा । मुझे पता था... लिखकर मुझे सारी बातें बतलाई थी ।”

“और फिर भी तू उसे ब्याहने...”

ना ऐसा जादू चल गया तेरे ऊपर?" आश्चर्य और दुःख के कारण उनसे बोला नहीं जा रहा था।

"जादू तो मुझ पर चल गया था अम्मा, पर उन लोगों के वड़प्पन का नहीं। दान-दहेज के बारे में तो मैंने उस समय सोचा भी नहीं था। मैं तो उनकी ईमानदारी का क़ायल हो गया था। जो बात वाद में चार शुभ-चिन्तकों ने चार तरह से मुझ तक पहुंचाई, वह बात सबसे पहले मुझे छाया ने ही बतलाई थी। सोचो तो, उसने कितना बड़ा ख़तरा मोल ले लिया था। इस अभागे देश की लड़की के लिए मैं सोचता हूँ यह बहुत बड़ी बात थी।"

अम्मा कुछ नहीं बोलीं। वस घृणा से मुंह विचका दिया।

"और यह भी तो सोचो अम्मा, कोई डरपोक व्यक्ति अगर उसे समय पर धोखा दे गया तो इसमें उसका क्या दोष है? किसी और की नालायकी की सज़ा वह क्यों उठाए?"

"वस तू ही तो रह गया था न्याय करने के लिए। धन्य है रे लड़के!" और वह दोनों हाथों में सिर पकड़कर बैठ गई थीं। कमरे में एक भयानक चुप्पी छा गई थी। बड़ी देर बाद हरीश धीरे से बोला था, "चिन्ता मत करो अम्मा! जब तक तुम नहीं कहोगी मैं उसे यहाँ नहीं लाऊंगा। तुमने मेरे लिए ज़िन्दगी में बहुत दुःख उठाए हैं। अब यह एक और दुःख, अनचाही वहाँ के साथ रहने का दुःख, मैं तुम्हें नहीं दूंगा।"

हरीश ने बात वहीं समाप्त कर दी थी। मांजी मन में कुड़कुर रह गई। हीरे से लड़के की ज़िन्दगी बरबाद होने का दुःख उन्हें सगल रहा था। घोखेबाज़ मिठबोले समधियों के लिए गुस्सा उबला पड़ता था। और वह—उसके भोले-भाले रूप के पीछे यह चलित्तर छिपा होगा किसने सोचा था।

और इसी कुलक्षणी लड़की के लिए लड़का उनका पराया हो गया है। वह मुंह से कुछ नहीं कहता, उन्हें किसी तरह की शिकायत ब मोका नहीं देता। उनकी सुख-सुविधा का खयाल रखता है। हारी-बीमा में सेवा-टहल में कोई कसर उठाकर नहीं रखता है। व्रत-उपवासों फल-फूल ले आता है। तीज-त्योहारों पर, पर्वों पर मिठाई, दान-दक्षि

का प्रवन्ध करना नहीं भूलता। पर मां होकर वह क्या इतना नहीं समझती कि वह भीतर-ही-भीतर उनसे कट गया है। पहले की तरह अब वह साड़ से उनकी गोद में आकर नहीं लेटता, अपनी पसन्द के नाश्ते की फरमाइश नहीं करता, खाना खाने के बाद उनके पल्लू में हाथ नहीं पोछता...

सोचते-सोचते सिर भारी हो गया तो वे रसोई में आ गईं। अभी तीन ही बजे थे, पर वे शाम के नाश्ते की तैयारी में जुट गईं। रसोई में बरतन खनकते हैं तो उनका अकेलापन कुछ कम हो जाता है। इस अकेले-पन से उन्हें डर सा लगने लगा है। इसीलिए वह अक्सर महरी से, दूध वाले से, जमादारिन से देर तक बतियाती रहती हैं। पर उन लोगों से भी ज्यादा देर बात नहीं हो पाती। धूम फिर कर सभी एक बात पर आ जायेंगे, "बहुरानी कब आ रही है? मुन्ना बाबू कब आयेंगे?"

तब साड़ले राम श्याम की याद आ कर कलेजे में कैसा तो होने लगता है? उन लोगों के रहते दिन कब कहां कैसे बीत जाता है पता ही नहीं चलता था। उनकी किलकारियां, बहू की चांदी की घंटियों-सी आवाज घर का कैसा भरा-भरा रखती थी। तब हरीश भी इतना धुप्पा नहीं रहता। अब तो अब्बल उसका पाव धर में टिकता नहीं। घर में रहेगा भी तो किसी किताब में सिर देकर बैठा रहेगा। कभी-कभी उसकी यह उदासी यह सूनापन देखा नहीं जाता। लगता है सारा रोप सारा अभिमान ताक पर रखकर कह दें, "जा, ले आ बहू को। मेरा क्या है? एक कोने में पड़ी रहूंगी ठाकुर जी को लेकर। तुम राजारानी आराम से रहो।"

पर बात ओठों तक आते-आते कहुई हो जाती और वे प्रयास कर चुप ही रहती। मन-ही-मन कहतीं—“तू अपनी ज़िद का पक्का है तो मैं भी तेरी मां हूँ। मैं क्यों अपनी बात ओछी पढ़ने दूमी...”

हरीश आया, सन्धी का पैला रसोई में रखकर कमरे में चला गया। वह चाय बनाकर बैठी रही। बड़ी देर तक वह नहीं लौटा तो छुद ही नाश्ते की प्लेट और चाय का कप लेकर नमरे में चली गईं। वह पल पड़ रहा था। उन्हें तो पल की बात याद ही न रही थी। मां

देखकर उसने लिफाफा दरज में डाल दिया और चुपचाप नाश्ता करने लगा। मां का मन रखने के लिए उसने इधर-उधर की कोई बात छेड़ी थी पर बातचीत जम ही न पायी।

चाय पीकर वह फिर से बाहर जाने के लिए तैयार होने लगा तो उन्हें घबराहट होने लगी, "कहीं जा रहा है?"

"हां अम्मा। और रात खाने पर इन्तजार मत करना।"

"क्यों?"

"आज पार्टी है। अपना मनोज है न, वह विलायत जा रहा है।"

"अच्छा तो एक दिन अपने यहां भी बुला ले न उसे। तू तो उसका पक्का दोस्त है। सबसे पहला न्यौता तो तेरी ओर से ही होना चाहिए था।" हरीश का चेहरा क्षणभर को तो कैसा हो गया। धीरे से बोला, "दरअसल अम्मा, पार्टी मैं ही दे रहा हूं। घर पर ही बुलाना चाह रहा था, पर काफी लोग हैं। तुमसे सम्मेलन नहीं पाता—मतलब है कि तुम्हें तकलीफ होती इसीलिए..."

"होटल में पार्टी दे रहा है, यही न।" मां जी का मन हुआ कि लड़के को खूब खरी-खोटी सुनाएं। तकलीफ का तो वहाना है। सच तो यह है कि अब अम्मा के हाथ का खाना भाता नहीं है। वहू की तरह विलायती खाना उन्हें थोड़ी ही आता है।

पर उन्होंने कुछ नहीं कहा। चुपचाप उसे तैयार होते देखती रहीं। मन हुआ कि पूछे कि जब घर पर खाना नहीं था तो ये ढेर-की-ढेर सब्जी किसके लिए लाये हो? पर यह भी नहीं कहा। बस वुत बनी बैठी रहीं।

हरीश के जाने के बाद घर और सूना लग उठा। शायद इसी सूनेपन की कल्पना से वे इतनी अधीर हो उठती थीं। दिन भर तो किसी तरह रह लेती हैं, पर शाम को खाली घर उन्हें काटने दीड़ता है। इस समय किसी के यहां जाना भी अच्छा नहीं लगता। सब के सब चहलपहल होती है। सब के पास अपने-अपने काम होते हैं। सब के मन में वे ही एक फालतू-सी लगती हैं। आज तो रात को खाने का भी संशय नहीं था। फुरसत ही फुरसत थी। सारे घर की वस्तियां जल

वे बाहर जाकर दरवाजे में बैठ रहीं, सड़क की रौनक देखती रहीं।

“पाय लागी काकी”

उन्होंने चौक कर सिर उठाया। मकान-मालिक की बहन कान्ता अपने छोटे बच्चे के साथ छड़ी हुई थी।

“अरे कान्ता बेटी। आओ आओ।” उन्होंने उल्लसित स्वर में कहा। इतनी लम्बी शाम काटने का एक सहारा-सा मिल गया था उन्हें। उसकी आवभगत करने में उससे बाने करने में काफी समय निकल गया।

“भैया नहीं लौटे क्या अभी?” जरा देर बाद कान्ता ने पूछा, “भाभी नहीं है तो क्या दफ्तर में ही बैठे रहते है?”

मा जी को लगा जैसे किसी ने उनके मन पर ही चोट की है।

वो नहीं है तो क्या बूढ़ी मां तो बड़ी है। उसके लिए तो समय पर आना ही पड़ता है। मुझे तो बिन्नी जरा देर हो जाए तो फ़िर होने लगती है।

“अभी-अभी तो बाहर गया है। किसी पार्टी में गया है,” उन्होंने लम्बी-चौड़ी सफाई दी।

“उससे एक काम था। आप ही से कहे जाती हूँ। सुबह शायद न आ पाऊँ”

“बनाओ।”

“आज के पेपर में एक स्कूल का विज्ञापन निकला था। खंडवा में है। आप लोग तो वही के हैं। अगर भैया किसी को जानते हों तो मेरे लिए कोशिश कर दें।”

“तू नौकरी करेगी?” माजी का इतना आश्चर्य हुआ। बड़े घर की बेटी है। खाते पीते घर की बहू है, इसे क्या गरज आ पड़ी।

फिर याद आया, पति तीन साल के लिए अमेरिका गये हैं। इसलिए अपने चारों बच्चों को लेकर वह पिछले साल मे यहाँ आ गई है। अकेले समय नहीं कटता होगा। कान्ता से बोली, “नौकरी ही करनी है तो इतनी दूर जाने की क्या जरूरत है लल्ली। यही ठेर-सी नौकरियाँ मिल जायेंगी। सेठ जी तो कितनों को जानते-गहचाते हैं।

“यही तो बात है काकी।” मैं दादा से कहना नहीं चाहती।

यहां नौकरी चाहती भी नहीं। कहीं बाहर ही मिले तो अच्छा। यहां कर अलग घर लेना भी अच्छा नहीं लगता।”  
मांजी का माथा ठनका “क्यों री, कुछ खटपट हो गई है क्या भियों से?”

“नहीं खटपट तो नहीं हुई। पर, अब तुम से क्या छिपाना काकी! ड़की तो मेहमान की तरह आये तो अच्छी लगती है। यूं हमेशा के लिए घर...।”

“हाय-हाय, ऐसा कुबोल क्यों बोलती है। भगवान करे तू अपने घर में सौ साल तक राज करे। दो-तीन साल की तो बात है। अभी आये जाते हैं कुंवर जी।”

“ये तुम कह रही हो काकी! पर उन लोगों को इतना सब्र कहां है! उन्हें तो लगता है मैं हमेशा के लिए उनके गले पड़ गई हूं। तुम्हें क्या बताऊं घर में कैसा व्यवहार हो रहा है? पुरुषों की तो आंखों में यह सब आता भी नहीं। मैं भी उन लोगों से कहने जाऊं अच्छा नहीं लगता।”

“जीजी कुछ नहीं कहती?”

“अम्मा! सबसे ज्यादा दुःख तो उन्हीं के कारण है। चुपचाप सब देखती रहती है पर कुछ नहीं कहती। उल्टे मुझी को सुनाती है कि तू तो कल को अपने घर चली जाएगी। मुझे तो इन्हीं बहुओं से निवाह करना है। मैं क्यों बुरी बनूं।”

बोलते-बोलते कान्ता का गला भर आया, मां जी की आंखें भर आईं। दूध वाले ने आवाज़ दी तो कान्ता की रामायण थोड़ी देर को रुकी। मां जी के हाथ में भरी हुई दूध की पत्तीली देखकर उसने फिर कहा, “दूध की ही बात लो काकी! घर में दो भैसे लग रही हैं, पर मेरे बच्चों के हिस्से में वह काड़ा आता है चाय का। छोटके को भी एक गिलास दूध नहीं मिल पाता।”

“क्यों? क्या होता है इतने दूध का?”

“कमरों में पहुंच जाता है। रसोई में इतना-सा आता है। उसी से दिन भर काम चलता है। यूं तो देवरानी-जिठानी दिन भर लड़ते

रहेंगी पर मेरे वक्त बिलकुल मां-जाई वहनें बन जाती हैं। इससे तो समुदास हो में रह जाती तो अच्छा था। पर इतनी बड़ी नाक से आई थी। अब किस मुंह से जाऊं वहां।”

कान्ता के जाने के बाद भी बड़ी देर बाद तक उनका मन उदास बना रहा। कान्ता तो पीहर में थी और उसके पति सिर्फ कुछ सालों के लिए परदेस गये थे। उन्होंने तो पति के पीछे पूरे पन्द्रह बरस देवरानो के राज्य में बिताये थे। रसोई से लेकर अचकी तक कौन-सा ऐसा काम था, जो उन्होंने नहीं किया था। पर छोटी का मुंह हमेशा चढ़ा ही रहता। जिस-तिस से कहती फिरती, “हमें तो बहना दो-शौ गृहस्थी पालनी होती हैं।”

देवर लेकिन सतजुगी थे, भाभी को पूजते थे। हरी को अपने सामने ही रखते, अपने साथ खाना खिलाते। पर वे ठहरे मर्द मानुस। वे क्या जानें कि किसकी दाल में घी है, किसकी रोटी घुपड़ी नहीं है, किसके दही में कितनी शकर है, दूध में कितना पानी पड़ा हुआ है?

पर में नित नई चीजें बनती, उन्हें खुद ही खटकर बनानी होती थीं। पर हरीश की घाली में बस एकाध बार ही वे जाती। बाकी सब छोटी के बच्चे चट कर जाते। कई बार चोरी छुपके मांजी ने बेटे को कुछ खिलाना चाहा तो उसने साफ़ इनकार कर दिया। बचपन से ही बड़े तेवर वाला था वह।

कॉलेज की पढ़ाई के लिए जब पहली बार शहर गया था हरीश तो चिन्ता के मारे मांजी खाट ही से लग गई थी। छुट्टियों में जब वह सौदा तो उसके भरे-भरे गाल देखकर उनकी आंखें जुड़ा गई थीं। होटल का ही सही पर वह अपनी मर्जी का तो खा रहा है। रोज़ किसी की काड़-ई जहर बातें तो नहीं सुननी पड़तीं। हर कोर पर कोई टोकता तो नहीं है।

छोटी लेकिन जलभुन गई थी। और लोग तो घर छोड़ कर दुबला जाते हैं, पर इधर देखो। अरे हम तो पराये हैं। पर मां की तो याद आई होती।

सच, बहुत परेशान किया था उसने। बेटे के राज में इतना मुख



मिला कि पिछला दुख-दर्द उन्हें भूल ही गया था। आज कान्ता की बातों से पुराने घाव फिर हरे हो गये थे। और उनका रोम-रोम छोटी को कोसने लगा। लाख दुश्मनी निभाई उसने, पर मेरे बेटे के भाग्य में विद्या थी, ओहदा था सो तो उसे मिलकर ही रहा। उसके अपने बेटे तो दसवीं तक भी घिसटते हुए पहुँचे हैं। मोहल्ले भर में कहती फिरी है। हमारी सारी कमाई तो राजकुमार को पढ़ाने में खर्च हो गई। अपने बच्चों का हाथ खाली ही रहा। सब बकवास है। बच्चे इस लायक हों तो पहले। जैसा किया है वैसा ही तो भरेगी।

अब देख-देख कर जलती है। हरीश की शादी में आई थी तो वह को देखकर, दान-दहेज देखकर आँखें फटी-फटी रह गई थीं।

और यकायक उन्हें लगा कि छोटी की बुरी नजर ही उनके संसार को छिन्न-भिन्न कर गई है। यूँ दिखाने को तो बड़ी तारीफ़ के पुल बांधती है हमेशा, पर ज़रूर ही उसकी जान जल गई होगी। अब यह नया क्रिस्ता सुनेगी तो उसके कलेजे में कौसी ठंडक पड़ेगी...

दूध जलने की गन्ध से उनका ध्यान खिंचा। अपना बुढ़ापे का शरीर ठेलठाल कर वह रसोई तक पहुँची, तब तक पता नहीं कितना उफन गया था। फर्श पर दूध-ही-दूध हो रहा था। इतना गुस्सा आया उन्हें गैस के चूल्हे पर। मरा राक्षस की तरह जलता है।

फिर याद आई कान्ता की। उसी के सामने दूध लिया था। ज़रूर उसी की नज़र लग गई है आज। उसके बच्चों को दूध नहीं मिलता तो मेरे बच्चे को भी टोक लगा गई। दूध की और टुकुर-टुकुर देखता हुआ कान्ता का छोटा बच्चा उनकी आँखों में घूम गया। एक कप दूध उसे पिला ही देती तो ठीक था।

धीरे-धीरे कान्ता के बच्चे की शकल उनके राम और श्याम में बदल गई। लगा जैसे वे भी मामा के बच्चों की ओर टुकुर-टुकुर ताक रहे हैं—एक कप दूध के लिए।

फिर याद आई वह। मुई मुझ जैसी कठ करेजी भी तो नहीं कि छात पर इतना दुःख सह ले। बच्चा गिर पड़े तो पहले खुद रोने बैठ जायेगी सामने वाला उसे चुप कराये कि बच्चे को। बच्चे को बुझाए हो जा

तो आधी बीमार ये खुद हो जायेगी । कान्ता की तरह होशियार भी तो नहीं कि...और उन्हें अपने अकर्मण्य, भावुक, भोली-भाली वह पर बेहद गुस्सा आने लगा और वे रगड़-रगड़ कर फर्श पोंछने लगीं ।

“यह क्या हुआ अम्मा ? दूध फैल गया क्या ?”

हरीश ने घर में पांव देते ही पूछा । पर वे नहीं बोली । उसी तरह जोर लगा कर फर्श रगड़ती रही ।

“तुम उठो अम्मा । मैं साफ़ कर दूँ ।”

“रहने दे भैया । काम करने के लिए तो हम बने हैं । हमारी तो हड्डी मसान में नहीं पहुंच जाती तब तक हमें खटना है । तुम साहब बने ढोलते रहो । वो अपने बाप के यहां मीज मार रही है । घर में मुफ्त की नौकरानी जो रखी हूँ ।”

वे गुस्से में इसी तरह ऊटपटांग बड़बड़ाती हुई फर्श धोती रहीं । बांछ उठाकर उन्होंने एक बार भी ऊपर नहीं देखा ।

देखती तो पता चलता कि हरीश उनके इस हवावतार पर मन्द-मन्द मुसकरा रहा है ।

## यथार्थ से आगे

दरवाजा मैंने खोल तो दिया, किन्तु वहीं पर खड़ी-की-खड़ी रह जाऊँ—जड़वत्। क्षण भर प्रतीक्षा करने के बाद उन्होंने ही पूछा, “अन्दर जाऊँ?” तब कहीं होश में आ मैंने दरवाजा छोड़ा। सोफे पर बैठकर वे रुमाल से पसीना पोंछने लगे। सफ़र की कान चेहरे पर स्पष्ट झलक रही थी। मैंने पंखा खोल दिया और एक टूल सामने लाकर रख दिया। सहज भाव से उस पर पांव फैलाकर उन्होंने आँखें बन्द कर लीं।

भीतर जाकर मैंने पहले तो गैस पर चाय का पानी रखा, फिर घड़े से एक जग भरकर गिलास के साथ रख आई। (फ्रिज का पानी उन्हें कभी भाता नहीं था और घर में सब इसे एक तरह का काम्प्लेक्स मानते थे)।

रसोई घर में लौटकर मैंने चाय बनाई, खूब स्ट्रॉंग, चीनी कम, दूध अधिक। सारा फार्मूला जैसे रटा हुआ था। क्राँकरी की अलमारी में ही बिस्कुट और दालमोठ के पैकेट थे, पर उनकी ओर मैंने देखा तक नहीं। ‘प्लेन टी’ उनका नारा था—जिससे मुझे हमेशा चिढ़ होती थी। चाय की टेबल पर जब तक दो-चार चीजें न हों, मज़ा नहीं आता था।

चाय लेकर पहुँची तब तक वे काफी सुस्ता चुके थे। चाय पीकर जैसे एकदम ताजे हो गए। बोले, “और लोग कहां हैं?”

“अम्मा तो हरिद्वार गयी हुई हैं। भैया-भाभी किसी शादी में। बबलू की वजह से मैं नहीं जा सकी...” कहते-कहते मैं यों ही मेज़पोश की सिलवटें ठीक करने लगी। डर था कि कहीं जान न लें कि अम्मा की

अनुपस्थिति और बबलू की बीमारी ने मुझे भाभी के साथ हर जगह जाने की मजबूरी से निजात दिला दी है। फिर विषय बदलने की गरज से कहा, "छाना तो नहा कर छाड़एगा न?"

"छाना रतलाम में छा लिया था, पर पानी अगर मिने तो नहा जरूर लूगा।"

मैंने अम्यस्त हाथों में अटंकी छांती। काड़े निकालते-निकालते डेर-सारे घिलौते फ़र्श पर बिखर गए। मैंने ऊपर देखा—वे मेरी ही ओर देख रहे थे। धिसियाये स्वर में बोले, "बबलू के लिए साया था। कंता है अब?"

"जी, अब ठीक है, पर उस समय एक बार तो मैं पबरा ही गई थी।"

"हां, यह स्वाभाविक है," उन्होंने ठट्ठे हुए कहा।

उन्हें नहाने भेजकर मैंने सच्ची की टोकरीयां टटोलनी शुरू कीं। एक ओर मुझे हसी भी आ रही थी। कह दिया, 'रतलाम में छा लिया था।' होटल का छाना और वह भी खम अड्डे पर। कभी छाग भी है आज तक? बाहर छाने की बान को लेकर तो पना नहीं किनारी धार झड़प हुई थी! और फिर बिना नहाये कब छाया है? शीलू तो हमेशा 'पण्डितजी' कहकर चिढ़ाया करती थी। उस बार आबू में दो बजे तक नहाने की सुविधा नहीं हो पाई थी, पर मजाल है एक बोर भी मुंह में लिया हो।

वे नहाकर निकले तब तक मैंने नौकी का रायता और भरवा बैंगन तैयार कर लिए थे। प्याजी पुलाव पक रहा था। उन्हें तेन-गौगा देते हुए मैंने देखा, कनपटी के पान किनारे सारे बाल सफ़ेद हो आए थे।

वे हंस पड़े, "क्या देख रही हो? बूढ़ा हो गया हूं न!"

"बैक का भरा काम ही ऐसा है। दिनभर आंखें फोड़ो और दिमाग घुमाओ। बाल सफ़ेद होंगे नहीं तो क्या होगा?"

"रात को थोड़ी ब्राह्मी की मालिश क्यों नहीं करते? तनकों में तोफी लगाने या गाय का घी मलने से ठंडक रहती है।" कहते-कहते मुझे मया, मैं नहीं कोई दादी-अम्मा बोल रही है। वे एकटक मुझे देख रहे थे।

कुचा कर मैंने कहा, “बबलू के पास बैठेंगे न थोड़ी देर। खाना बस भी बना ही जाता है।”

बबलू अपनी मसहरी में बैठा तसवीरों वाली पुस्तक देख रहा था। वह कब जग आया पता ही न चला। हम लोगों की आहट से चौंकर उसने ऊपर देखा, बड़ी देर तक देखता रहा। फिर धीरे-धीरे मेरे कान में फुसफुसा कर बोला, “पापा हैं न?”

इस प्रश्न का उत्तर देने के करुण कर्तव्य से उन्होंने उबार लिया और लपककर उसे गोदी में उठा लिया। मैं फिर वहां खड़ी न रह सकी।

रसोई मुझे बुला ही रही थी। पुलाव जलने को था। झट उतार कर मैंने अंगीठी पर कुछ कोयले लगाये। तब पर सिकी रोटियां उन्हें जरा नहीं भाती थीं। बरनियां टटोलकर उनकी पसन्द का (खास कर अम्मा के हाथ का बना) कटहल का अचार निकाला।

दो फूलके जब बन गए तो मैं थाली लगाकर कमरे में ले गयी। देखा, बबलू महाशय पापा को ठोड़ी पर गाल रगड़ते हुए आराम से लेटे हैं। बातें—निरर्थक बातें—करने का उन्हें समय नहीं है।

मैंने खिलोनों का ढेर उसके सामने पटककर कहा, “देख तो तेरे लिए क्या-क्या चीजें आई हैं?” लेकिन और दिनों की तरह वह झपटा नहीं। बस अपने आसन पर बैठा देखता रहा। अपनी कृतज्ञता जताने के लिए उसने पापा को जोर से भींच लिया—बस। उसका नन्हा-सा मन भी जान गया था कि खिलोनों के लिए तो काफ़ी समय पड़ा है।

पांवों में जैसे पर लग गए हों। मैं फूलके बनाती रही, देती रही। आग़िर जब उन्होंने कहा, “कितने दिनों का इकट्ठा खिला रही हो?” तब कहीं जाकर मैंने उन्हें उठने दिया।

पाली लेकर अब मैं लौटी तो अचानक सामने भैया पड़ गए। अपनी री में मैंने कार की आवाज तक नहीं सुनी थी। भैया का चेहरा तना हुआ था और आवाज को प्रयत्न-पूर्वक धीमा करते हुए उन्होंने कहा, “हज़रत अब क्या चाहते हो?”

“यच्चे को देखने आए हैं,” मैंने जैसे दीवार को जवाब दिया। मेरे स्वर से भैया चौंके और चुपचाप बाहर चले गए।

पिछले दो घंटों से मैं जैसे किसी कल्पना लोक में थी और सब मेरे पांव जमीन पर आ लगे ।

भैया का भी घसे दोष क्या था ? इनको लेकर उनकी राय कभी भी अच्छी नहीं रही । इस शादी में दोनों पक्षों में से किसी की भी सम्मति नहीं थी ! हम लोग सामाजिक, मानसिक किसी भी धरातल पर समझा नहीं थे । केवल प्रेम का क्षणिक आवेग ही हमें बांधे हुए था ।

सत्य का विरोध मोल लेकर जिस नींव पर हमने दांपत्य की नींव डाली थी, शादी के तुरन्त बाद ही वह धसकने लगी । अपने परिवार का, परिवर्ग का विच्छाद दोनों का ही सहन न हो सका । प्रेम का पहला उपान प्लम होते ही गिट्टों की तरह एक-दूसरे की कमजोरियों को, घावों को मोचने लगे । बबलू के जन्म से भी इस खाई को भरा नहीं जा सका था ।

दोनों के परिवारों ने इस सम्बन्ध को विगाड़ने में ही अधिक दिल-चस्पी ली । मेरे परिवार के लिए यह रिश्ता स्तर से नीचे का था । उनके यहां तो मुझे कभी सहानुभूति नहीं मिली । हमारे लिए शुभी की बात यह थी कि हमने सौजन्य के साथ एक दूसरे से बिदा ली । यहां वाले तो उधार दायें ही बँडे थे । तलाक के दूसरे ही वर्ष उनकी शादी कर दी ।

फिर भी आज उन्हें देखकर मन में आशोश नहीं, बल्कि दया या कृतज्ञता—सी मन में जगी थी । बेचारे महज बबलू के लिए इतनी दूर से दौड़े आए थे ।

पता नहीं क्यों पिछले वर्ष से बबलू को अपने पापा के विषय में बड़ी जिज्ञासा हो चली थी । शामद स्कूल जाने का यह परिणाम हो । एक बार तो उसने यहां तक कह दिया था, "मम्मी, क्या मौलू की तरह पापा भी भगवान के महा चले गए हैं ?"

मैं फटी आंखों से देखती रह गई थी । उसका भी क्या दोष ? इस घर में उनका कोई स्मृति-चिह्न न था । उनका नामोल्लेख तक यहां पवित्र था । तब मैंने ही चुनचाप सारे अलबम ट्रंक की तलहटी से निजात लिए थे । बबलू घर भर की नजरें बचाकर घंटों उनमें खोया रहता । मुझसे कुरेद-कुरेद कर उसने पापा की आदतें, उनके कपड़े तथा शीशु जैसे बटारप कर लिए थे । उसने पता नहीं फीमे उनके चेहरे की एक-एक रेखा को :—

कर लिया था कि चार साल बाद भी उन्हें देखते ही पहचान गया था। इस बार जब उसे डिप्योरिया हुआ तो पता नहीं उसने कितनी बार कण स्वर में उन्हें याद किया। मुझसे रहा नहीं गया। एक दिन जो कड़ा करके मैंने लिख ही दिया—वह पत्र पता नहीं कितनी बार लिखा गया, जलाया गया। लिफाफे में वन्द होने पर भी अनिश्चय की अवस्था में न जाने कितने दिन तक मेरे पर्स में झूलता रहा था।

पर उन्हें यह असमंजस नहीं व्यापा था। पत्र मिलते ही चले आए थे। इस अहसास से मेरे आंनू निकल आए। मैंने ईश्वर को धन्यवाद दिया कि आज घर में कोई नहीं था। नहीं तो क्या इस तरह जी भरकर उन्हें खिला सकती थी, उनके पास बैठकर बात कर सकती थी!

लौटकर कमरे में गई तो देखा, अखबार मुंह पर ढककर वे आराम-कुर्सी पर सो रहे थे। मन-पसन्द भोजन की तृप्ति उनके चेहरे पर थी। मेरी आहट से उनकी तन्द्रा टूटी। बोले, "अरे, कहां रह गई थीं तुम? तुम्हारा चेहरा कैसा हो रहा है?" फिर कुछ धीमी आवाज में कहा, "क्या भैया ने कुछ कह दिया? नेवर माइन्ड। आई वाज नेवर इन हिज गुड बुक्स।"

कितनी सरलता से कह गए थे। और दिनों तो इन्हीं बातों को लेकर घंटों महाभारत होता था। प्रसंग बदलने के लिए मैंने कहा, "घर पर सब ठीक है?"

"सब ठीक है। मां का मोतियाबिन्द का आपरेशन हुआ है। महेश ने एम० एस० सी० का इम्तहान दिया है। भानु की शादी नवम्बर में हो रही है।"

"और...और...गुड्डी कैसी है? क्या नाम रखा है?"

"मुग्धा"

सुनकर मन में एक कचोट-सी लगी। परिवार-नियोजन के समस्त नियमों को ताक पर रखकर मैंने वच्चों के नामों की जो लिस्ट बनाई थी उसमें एक नाम यह भी था। मैंने उनकी ओर देखा। उनके चेहरे पर इस तरह का कोई भाव न था। बल्कि वे घड़ी देख रहे थे, "चले भाई नहीं तो साढ़े पांच वाली ट्रेन नहीं मिलेगी।"

"क्या आज ही..." शब्द मेरी जिह्वा तक आते-आते रुक गए। वस मैंने इतना ही कहा, "मैं चलूँ स्टेशन तक?"

"मैं भी।" छिलीनों में उत्सुका बबलू एक शटके के साथ उठ खड़ा हुआ। अभी उसे हम लोग बाहर नहीं ले जाते थे, पर आज ये सब प्राप्ततु बातें सोचने का समय नहीं था।

तैयार होकर हम निकले, पर धूप चिलचिलाती हुई थी। कोलतार की सड़क एकदम चमचमा रही थी। उन्होंने बबलू को उठा लिया था। अटोमी मेरे हाथ में थी। इस तरह चलना कितना भला मालूम हो रहा था। दूसरी ओर धूप का खयाल न होता तो मैं टैक्सी भी न करने देती।

स्टेशन पर हमेशा की तरह हाय-तोवा का वातावरण था। उन्होंने परस मुझे देते हुए कहा, "सुम टिकट लेकर आ जाओ। हम प्लेटफार्म पर चलते हैं।"

धक्का-मुक्की में टिकट लेकर जब प्लेटफार्म पर आई तो देखा—स्टेशन के कोने पर दूर लकड़ी की बेंच पर दोनों बैठे हैं। मैं भीड़ को चीरती पास तक आ गयी, पर अपनी बातों में दोनों ऐसे उलझे थे कि मुझे देखा तक नहीं। बबलू ही बोल रहा था। वे तो बस थोटा बने बैठे थे। दोस्तों की बातें, मास्टर जी की तारीफ़, नानी का लाड़-पुलार, मामा का नियन्त्रण और भामी का रुखापन—बारी-बारी से सबका वर्णन हो रहा था। कई बातें तो मेरे लिए भी नई थी। बबलू जैसा शर्मीला लड़का इतनी जल्दी पुलमिल जाएगा, मैंने कल्पना भी न की थी।

मेरी चुड़ियों की खनक से अनायास उनकी बातों का सिलसिला टूटा। परम थोर टिकट उन्हें लौटाते हुए मैंने वे पुस्तकें भी उन्हें दीं जो मैं सफ़र के लिए लाई थी। पुस्तकें रखने के लिए बैग खोलते ही चकित रह गये। ऊपर ही एक पकेट पड़ा था। उन्होंने मेरी ओर देखा। उन निगाहों से बचते हुए मैंने कहा, "गुड्डी के लिए है—बबलू की ओर से।"

दरअसल यह फ़ॉक मैंने बेहद छिपा कर रखा था और उम्मीद थी की यहां से आने के बाद ही देख पायेंगे। छिपाकर इसलिए कि वे कहीं नाराज न हो जायें कि बबलू के छिलीनों का बदला दिया जा रहा है, पर उन्होंने मुसकुरा कर कहा, "हम कितने फ़ार्मल होते जा रहे हैं।"



वात शायद व्यंग्य में कही गई थी, पर मैं तो इससे भी बड़े विस्फोट की आशा कर रही थी। यह फ्रॉक मैंने भाभी की पिकी के जन्म-दिन के लिए रात-रात भर जाग कर काढ़ा था। मैं उन्हें सरप्राइज़ देना चाहती थी, पर उस देने में शायद एक ऋण चुकाने का-सा भाव रहता। इस देने में एक अनजानी तृप्ति थी।

अन्तिम घंटी बजी और स्टेशन पर एक हलचल-सी मच गई। बबलू उनके घुटनों में मुंह छिपाकर खड़ा हो गया। शायद रुलाई रोकने की चेष्टा कर रहा था। उसे गोद में उठाकर देर तक वे प्यार करते रहे। मैं दूसरी ओर मुंह किये उनका वँग थामें रही। मन के द्वार पर एक प्रश्न बार-बार थपकी दे रहा था, “अब कब आइएगा?” पर शब्द अधरों तक आकर लौट-लौट जाते थे।

रेल मानो कलेजे पर हथौड़ी की चोट करती धड़धड़ाती स्टेशन में दाखिल हुई। बड़ी कठिनाई से उन्होंने बबलू को मेरी गोद में दिया और लपककर किसी डिब्बे में जा चढ़े। एक बार भी पीछे मुड़कर नहीं देखा।

लौटते समय टैक्सी में बबलू मेरी गोद में सिसकते हुए कह रहा था वरान “मम्मी, यह रेल कैसी है जो पापा को इतनी दूर ले जाती है?”

और मेरा मन कह रहा था, बेटे कैसी तो तेरी मम्मी है ! नहीं तो इस रेल निगोड़ी की क्या मजाल थी जो इस तरह तेरे स्नेह की छाया, तेरे अधिकारों का घर छिन जाता।

## उसने नहीं कहा

वह नहा कर निकला ही था कि शोभा ने कहा, 'जरा बाहर जा कर तो देखिए !'

'क्या है ?' उसने बेजारी से पूछा, पर अपनी उत्सुकता को रोक न सका। गीले बालों को तौलिए से रगड़ता हुआ बरामदे में आ खड़ा हुआ।

देखने को वहां कुछ भी तो नहीं था।

अपने पीछे चली आई शोभा पर वह बरसने वाला ही था कि उसने कहा 'जरा बाहर तो देखिए—बाबूजी को।'

इस बार उसने देखा, दरवाजे पर एक ठेला खड़ा है, और बाबूजी उसे वैसे दे रहे हैं। इससे पहले कि वह शोभा को अच्छी धुमती-सी बात कहता बाबूजी तीन-चार पुड़ियां बगल में समेटे गेट बन्द करने की कोशिश कर रहे थे।

'यह क्या ले लिया बाबूजी ?' उसने आगे बढ़कर फाटक बन्द करते हुए पूछा।

'कुछ नहीं, थोड़ा-सा नमकीन !' अपना बोझ प्रमोद के हवाले करते हुए बाबूजी ने कहा, 'अच्छा दिखा तो ले लिया। बच्चों वाला घर है ! दिन भर बच्चों को मुंह चलाने के लिए कुछ चाहिए ही।'

और इतना कह कर बाबूजी जैसे कर्तव्यमुक्त होकर अपने कमरे में लौट गए, पर उनके जाते ही ओट में खड़ी शोभा सामने आ गई।

'लो भई संभातो अपनी अमानत।' प्रमोद ने सामान उसकी ओर यड़ाते हुए कहा, किन्तु वह वैसी ही तनी हुई मुद्रा में दूर खड़ी रही।

‘अरे, लो भाई, मुझे तैयार होने दो अब, सवा नौ हो रहे हैं।’

‘यह है क्या?’ उसने रुखे स्वर में पूछा।

‘नमकीन है। बाबूजी बच्चों के लिए खरीद कर लाए हैं।’

‘आपके बच्चों ने कभी राह चलते ठेले की कोई चीज खाई है?’

‘ठीक है भाई! पर मैं बाबूजी से तो यह सब कह नहीं सकता न!’

उन्हें अपने लाड़ले पर प्यार आ गया है तो बीच में बोलने वाला मैं कौन होता हूँ। उनका मन हुआ तो वे खरीद लाए। अब तुम्हारा मन हो तो घर में रखो, नहीं तो नौकरों में बांट दो। बस, बात खत्म!’

‘नहीं, बात यहीं खत्म नहीं।’

प्रमोद भीतर जाने को मुड़ा ही था कि शोभा का समस्त स्वर सुन कर बीच ही में रुक गया, ‘क्या?’

‘यह कि मैं इसका मतलब खूब समझती हूँ।’

‘साफ-साफ कहो न! वक्त-बेवक्त कुछ देखती नहीं। बस, बहस लेकर बैठ जाती हो। जरा घड़ी तो देखो।’

‘मुझे मालूम है यह सब मुझे दिखाने के लिए किया गया है।’

‘मेरी समझ में अब भी कुछ नहीं आ रहा। ठीक से बताओ।’

‘दो-चार दिन से उनकी मण्डली को नाश्ता नहीं दे पा रही हूँ न, इसीलिए यह नाटक रचा गया है।’

‘लेकिन क्या नाश्ता नहीं दिया गया? तुम्हें मालूम है, बाबूजी सूखी चाय कभी नहीं पीते।’

‘बाबूजी के लिए किसने मना किया? पर पूरी बारात को तो मैं रोज़ खिला नहीं सकती। विस्कुट-उस्कुट से काम चल जाता तो तब भी शनीमत थी। पर आपके पिता तो चाहते हैं कि दिन भर हलवाई की कढ़ाई चढ़ी रहे। पता नहीं किस जमाने में रहते हैं! न तो उन्हें इस बात की परवाह है कि बाज़ार आकाश छू रहा है, न इस बात का ही खयाल कि घर में गैस नहीं है या कि नौकर बीमार पड़ा है।’

“मजबूर हूँ बेचारे! मां ने ऐसी शाही आदतें डाल दी हैं। अब भला इस उम्र में छूटेंगी वे?”

पर शोभा को तसल्ली नहीं हुई। पाने की भेज पर भी उसका

मनमुनाना जारी रहा। आखिर तंग आकर प्रमोद बोला, 'अच्छे-भले पड़े थे गांव में। तुम्हें ही शौक चढ़ा था बुलाने का। अब क्यों रोती हो?'

"हम लोगों के होते हुए वहां उनका अकेले रहना क्या अच्छा लग रहा था? आखिर सन्तान किस दिन के लिए होती है?" शोभा ने बुजुर्गाना लहजे में कहा।

"जब इतनी समझदार हो तो सहना भी सीखो। तुमने क्या सोचा था कि बाबूजी आएंगे तो मोम के गुड़ड़े की तरह कमरे में बैठे रहेंगे!"

"मैं क्या पागल हूं। बल्कि मैंने तो सोचा था कि घर में बड़े बुजुर्ग के रहने से एक दबदबा-सा रहेगा। बच्चों पर कुछ अच्छे संस्कार होंगे। आपके दूर पर चले जाने के बाद अकेला-सा नहीं लगेगा। कभी-कभार सिनेमा या क्लब जाते समय बच्चों को निश्चिन्त होकर छोड़ा जा सकेगा।"

"तुम्हारी यह सारी ज्वाहिशें पूरी नहीं हो रही हैं! फिर जरा-सी बात का बर्तगड़ क्यों बना लेती हो। जरा सन्न से काम लेना सीखो।"

कहने को प्रमोद कह गया, पर जानता था कि अब मेज पर बैठना पतरे से खाली नहीं है। शोभा अगर शुरू हो गई तो दफ्तर के लिए लेट करवा कर ही छोड़ेगी। बार-बार घड़ी की ओर देखता हुआ वह फुर्ती से उठ पड़ा हुआ और वाश-वेसिन पर हाथ धोने लगा।

बात आधे में ही टूट जाने से शोभा क्षुब्ध हो गई है, वह साफ देख रहा था। वह सौफ, इलायची, पेन, रुमाल, स्कूटर की चाबियां—सारी चीजें चुपचाप उसके पास लाकर रख दी गईं और वह चुपचाप सिर झुकाए जूते पहनने का नाटक करता रहा। घड़ी की सुई प्रतिपल आगे भाग रही थी, और मान-भगौवल का जरा भी समय उसके पास नहीं था।

यही तो हो जाता है।

शोभा जरा-जरा-सी बात पर बुरा मान जाती है। पर वही बातें वह कितनी बार सुने! और सुन भी से तो निराकरण का उपाय क्या है!

यह सब है कि बाबूजी के आते ही घर में आमदरफ्त बढ़ गई है। पिछले दस साल से वह इस शहर में है। पर गिने-बुने लोगों के यहां ही

ना-जाना होता है। मोहल्ले वालों से तो बस दुआ-सलाम होती रहती। कभी घण्टे-दो-घण्टे किसी के यहां गए हों ऐसा याद नहीं पड़ता। हां कोई इसका बुरा भी नहीं मानता। सभी अपनी व्यस्त दिनचर्या में वे रहते हैं।

बाबूजी को यहां बुलाते समय प्रमोद इसी बात को लेकर चिन्तित था कि उनका समय यहां कैसे कटेगा ! जब से याद पड़ता है, उसने बाबूजी को हमेशा लोगों से घिरा हुआ ही देखा है। जानता है कि अकेलेपन से बढ़कर कोई राजा उनके लिए नहीं है। और यहां तो दिनभर घर पर सन्नाटा-सा खिंचा रहता है। बच्चे सुबह नौ बजे ही स्कूल निकल जाते हैं और स्कूल के बाद ट्यूशन आदि से निपट कर ही घर लौटते हैं। वह भी दस बजे का गया छह बजे तक लौट पाता है। इतनी देर बाबूजी घर में क्या करेंगे ? लायब्ररी की किताबें भी आखिर कोई कितनी पढ़ेगा ? वैसे भी उन्हें पढ़ने का ज्यादा शौक कभी नहीं रहा।

परन्तु बाबूजी के सामने यह समस्या कभी उठी ही नहीं। पहली ही बार सुबह की सैर को गए तो ३-४ पेंशनरों को साथ पकड़ लाए। उन्हें गरमागरम चाय-नाश्ता कराया। प्रमोद भी खुश हुआ कि चलो, हम-उम्त्रों के बीच अब आसानी से इनका वक्त कट जाएगा।

प्रमोद तो अपनी परेशानियों से मुक्त होकर हल्का अनुभव करने लगा था, पर शोभा की परेशानियां एकदम बढ़ गई थीं। सुबह का समय वैसे ही घड़ी से होड़ करके बीतता था। अब इन बुजुर्गवारों के चाय-नाश्ते का काम और बढ़ गया था। बाबूजी सैर से लौटते ही दीपू को चाय का आर्डर भेज देते। तब शोभा को बड़ी कोपत होती। अब वह बच्चों को तैयार करे, रसोई देवे या सुबह से चाय ही बनाती रहे। सितम यह होता है कि भल्ला साहव के पिताजी दूध लेने के लिए, घर से चलते हैं और फिर बाबूजी की बैठक में रम जाते हैं। फिर गोपाल को उनके यहां दूध पहुंचाने भी जाना पड़ता है। दीपू, नीतू को तैयार करती शोभा खीझ उठती है। इन लोगों को तो कोई काम नहीं। तो क्या सभी लोग पेंशन लेकर बैठ जाएं।

यह तो होती है सुबह की महकिल ! दोपहर को बाबूजी शतरंज लेकर बैठ जाते हैं । दो-चार खेलने वाले और दो-चार देखने वाले जुट ही जाते हैं । पांच बजे तक चाय और शरबत के दो-चार दौर हो जाते हैं । इस समय बाबूजी की इच्छा होती है कि घर का बना कोई गरमागरम नाश्ता भी परोसा जाए । फिर बाबूजी इशारा करके मेहमानों को पिलाते जाते हैं और बहू की सारीफ़ भी करते जाते हैं ।

पहले शोभा इस प्रशंसा से बड़ी पुलकित होनी थी, पर अब उसे कोपत होने लगती है ।

शाम को मिश्राजी के बड़े भाई साहब प्रीति को डांस-बलास में छोड़ने के लिए घर से निकलते हैं । प्रीति को अकेले जाते डर भी लगता है और ताऊजी के साथ जाते शर्म भी आती है । वह यहां तो साथ आ जाती है, फिर नारंग साहब की ज्योति के साथ आगे बढ़ लेती है । घर वापस लौटने की बजाय ताऊजी, बाबूजी के पास बैठ कर तो भतीजी की प्रतीभा करते हैं और नई सभ्यता को कोसते रहते हैं । घाय उनके लिए भी बनती ही है ।

अपनी पूरी-की-पूरी पेगन बाबूजी प्रमोद के हाथ में पकड़ा देते हैं तो वह संकोच से गड़ जाता है । पर शोभा भुनभुनाती रहती है—डेढ़ सौ रुपये पकड़ा देते हैं तो सोचते हैं जग जीत लिया । जरा बाजार जा कर पता करें तो गश आ जाए ।

परेमान हो उठता है प्रमोद । पत्नी को कैसे समझाए कि खिन्दगी भर यही तो कामया है बाबूजी ने, जंगल में भी बैठ गए हैं तो चार लोग आस-पास जुट आए हैं । फिर यह तो इतना बड़ा शहर है !

दिन भर बहुत बेचैन बना रहा प्रमोद ।

शोभा की परेशानी को वह समझ रहा था । पर मां ! फिर मां कैसे ताल-मेल बिठा सेती थीं ।

माना कि ऐसी रूपप्राप्ती महंगाई उन दिनों नहीं थी । पर आमदनी भी तो ज्यादा नहीं थी । फिर चार बच्चों का साथ और ऐसा मजमेबाज

त ! पर घर में कभी चख-चख नहीं गची । कभी परेशान भी होतीं । बच्चों के सामने कह-गुन कर हल्की हो जातीं । बाहर वालों ने हमेशा उन्हें गुस्काराता ही देखा । उनका अतिथिसत्कार उस समय भी मिसाल-रूप में गिना जाता था ।

याद है उसे, कई बार सन्जी के लिए उबले आलुओं को मसल कर ही मां ने कचोड़ी बना दी है और बच्चों को सिर्फ कोरी दाल से रोटी तोड़नी पड़ी है । कभी उबलते दूध में चावल डाल कर खीर बना दी गई है । दोपहर की चाय न मिली तो न सही । कभी महीने का अन्त है तो बच्चे अनार से ही काम चला रहे हैं । पर उस समय भी कोई भूला-भटका आ निकलता तो मां सट-से कढ़ाई चढ़ा कर बेसन घोल लेतीं और आंगन में लगे अजवाइन या पोई के पत्तों की पकौड़ी उतार देतीं ।

उनका एक ही सिद्धान्त था—अपने घर में हम कैसे भी रह लें, पर घर आया मेहमान सन्तुष्ट होकर जाना चाहिए ।

और घर में आने वालों की संख्या गया कम थी ! नाते-रिश्तेदार तो खर थे ही, उनसे ज्यादा संख्या तो बाबूजी के दोस्तों की थी । कुछ तो इतने बेतकलुफ कि सीधे रसोई में आ धमकते और बच्चों के साथ ही शुरू हो जाते । पर मां के माथे पर कभी बल नहीं पड़े ।

उन दिनों बाबूजी एक खास 'रविवारीय भोज' का आयोजन करते थे । उसके लिए मां ने चीनी की प्लेटें, एक भगोना और कलछी अलग रख छोड़े थे । आंगन के छोर पर बने एक चूल्हे पर यह कार्यक्रम चलता ।

मां रविवार को सुबह उठकर वहां झाड़ू-बुहारी करतीं, मसाला पीस कर रखतीं, आटा सान कर रखतीं । सारा सामान एक बार वहां सजा देने के बाद जो मन्दिर की राह लेतीं तो शाम ढले ही घर लौटतीं । दिन भर उनके मुंह में अन्न का दाना भी नहीं जाता । पड़ोसिनें कहतीं, 'पति के पापों का प्रायश्चित्त कर रही है विन्नो की मां !'

मां हंस कर कहतीं, 'फोट का पाप, कटि का पुनः ! अब किसी का राने का मन है और हमें बनाना नहीं आता तो हम यहां बैठकर क्या करें ! उतनी देर ठाकुरजी की सेवा ही सही ।'

"लेकिन अपने घर में तुम्हें यह सब अच्छा लगता है ! इतने सारे

होटल तो है। विन्नो के बाबूजी वही जाया करें तो क्या हज़ ?”

“अरे बाह” मां तमक कर कहतीं, “अपना घर होते हुए होटल में क्यों जाएगा कोई ? वहां खाने से मन भरता है कभी ? और इतने संगी-साथी लेकर होटल जाने का धूता है किसी का !”

सच तो था, बाबूजी के उस सामिप भोज में १०-१२ लोग तो कम-से-कम आते ही थे। होता यह चन्दे से ही था। पर उनमें से कई ऐसे थे जो घर से छिपा कर आते थे। वृषभान चाचा तो ऐसे थे जो चन्दा भी नहीं दे पाते थे। पर बिना बुलाए ही आ टपकते। सब मां कहतीं, ‘मर्द मानुस है, घाते-पीने की हवस को कहां तक दबाएगा बेचारा ! घर में नहीं मिलता, तभी तो इधर-उधर सार टपकाता फिरता है !”

शुरू-शुरू में तो मां बच्चों का खाना बनाकर रख जाती थीं, पर बाद में आमिल चाचा बच्चों को खीच कर अपनी पंगत में ले जाने लगे। मां को पता चला तो हाथ जोड़कर बोलों, ‘साला सड़के तुम्हारे हैं। जैसे चाहे गुण सिखा देना। मैं कुछ नहीं बोलूंगी। पर सड़कियों को बरस दो। पता नहीं कैंसी समुराल मिले। मर्द मानुस तो अपने शौक धाहर जा कर पूरे कर लेता है, पर यदि इनकी जीभ को स्वाद लग गया तो छटपटाती फिरेंगी।”

उस समय तो सारी बातें इतनी रुदीन हो गई थीं कि कुछ भी अस्वाभाविक नहीं लगती थीं। पर आज सोचते हुए कैसा आश्चर्य होता है ! मुश्किल में चार किताबें पढ़ी, कट्टर धार्मिक संस्कारों में पक्षी-बढ़ी मां ! इतनी मूझवूझ ! इतना विवेक, इतनी सुघड़ता कहां से ले आई वह ! कौन-सा विश्वविद्यालय था जहां से मां ने यह विद्या सीखी थी—अभावों में मुसकराने की विद्या, पति के दोषों को धूमसूरती से ढांपने की विद्या, बच्चों के भविष्य में दूर से झांक लेने की विद्या, मध्यम-वर्गीय विपन्नता के बावजूद भी सिर उठा कर चलने की विद्या—कहां से सीखा था मां ने यह सब !

मां के प्रति उसका मन नए सिरे से श्रद्धानत हो आया। सच, ऐसी संगिनी को छोकर बाबूजी कितने अकेले पड़ गए होंगे।



पता नहीं उसके मन में कैसा ज्वार उमड़ा कि घर लौटते समय के स्कूटर की सामने वाली बास्केट तरह-तरह के खाद्य-पदार्थों की लयों से भरी हुई थी ! इतने पर भी उसका मन नहीं भरा तो कृपा-म हलवाई की दुकान के सामने गाड़ी रोककर उसने १०-१२ गरम चीड़ियां भी तुलवा लीं ।

स्कूटर पार्क कर वह किसी स्कूली बच्चे की-सी आतुरता से सीधा बाबूजी के कमरे में घुस गया ।

“बाबूजी ! कचीड़ी लीजिए—बिल्कुल कड़ाई से निकलवा कर लाया हूँ । अपने यहां का मशहूर हलवाई है । आपके शहर की टक्कर का तो नहीं...”

बाबूजी विस्मित हो उसकी ओर देखते रहे । फिर धीरे से बोले, “इतनी जल्दी क्या है बेटे ? अन्दर भिजवा दो ! सब लोग साथ ही ले लेंगे ।”

संकोच से गड़ गया वह ! ठीक तो है । बाबूजी क्या ऐसे ही हाथ में लेकर खा लेंगे ! अपनी उमंग में उसे याद ही न रहा कि शाम की चाय बाबूजी उसके साथ भी ले लेते हैं ।

स्कूटर का रागान निकाल कर गोपाल अन्दर ले जा रहा था कि उसने उसे आवाज दी । कचीड़ी का लिफाफा उसे पकड़ाते हुए बाकी सामान खुद ले लिया और अल्मारी में एक-एक सिरे से जमाने लगा ।

बाबूजी कुछ देर तो शान्ति से देखते रहे, फिर धीरे-से बोले, “यह क्या हो रहा है बेटे ?”

“जरा शहर तक निकल गया था ! बड़ी फेमस दुकान है, वहां ‘भगवान-नमस्कीन भण्डार’ । सोचा, यहां तक आया हूँ तो कुछ लेता चलूं ।”

“यह कुछ है ? तुम तो पूरी दुकान ही उठा लाए बेटा !”

“तो क्या हुआ बाबूजी ! यह खराब होने वाली चीज थोड़े ही हैं ! तली हुई मूंग की दाल, ये बीकानेरी भुजिया, ये रतलामी सेव, और ये तली हुई मूंगफलियां । इन्हें आजकल ‘टेस्टी’ कहते हैं ।”

“ठीक है, ठीक है ।” बाबूजी ने उसे रोकते हुए कहा । अब ले आए हो तो ठीक है पर यहां क्या नुमाइश लगा रहे हो ! जा कर बहू को

समलवा दो ।”

इसो प्रश्न तो प्रमोद बचना चाहता था । हकलाते हुए बोला, “उधर के लिए भी लाया हूँ । गाड़ी में पैकेट्स रखे हैं ।”

“इधर के लिए अलग से लाए हो ? क्यों ?”

“अक्सर आपके पास लोग-वाग आते रहते है न !”

“तो !”

बाबूजी का स्वर उनकी दृष्टि की ही तरह तीखा था । प्रमोद की सिट्टी-पिट्टी गुम हुई जा रही थी फिर भी हिम्मत करके बोला, “दर-असल मैंने सोचा कि कभी आपको अन्दर से मंगाने हुए संकोच लगे तो—” मतलब यह कि वह बेवकत कोई आ भी गया तो आप परेशान नहीं होंगे ।”

“तो बेटे एक काम और करो—।”

“जी !”

“एक बिजली का चूल्हा और पतीली भी यहां रखवा दो । बेवकत कोई आए तो मैं चाय भी बना लिया करूं ।”

“बाबूजी, आप समझ नहीं रहे हैं—।”

“मैं सब समझ रहा हूँ, बेटे । और एक बात तुम भी समझ लो कि मेरे पास जो भी लोग आते हैं, वे छाते-पीते घरों के शरीफ आदमी हैं । एक कप चाय अगर हम उन्हें पिलाते हैं तो उसमें अपने ही घर की इज्जत बढ़ती है । अपना ही बखान होता है । हम किसी पर कोई अहसान नहीं करते ।”

“मैं क्या यह सब समझता नहीं बाबूजी । इसी वातावरण में तो पल कर बड़ा हुआ हूँ । पर होता क्या है कि कभी-कभी कोई ‘प्राब्लम’ आ जाती है, तो सेबीज परेशान हो जाती है इसीलिए कह रहा था—।”

“हां बेटे, यह बात तूने ठीक कही । न कहता तो शायद मेरी समझ में कभी आती ही नहीं ।”

बाबूजी ने नाटकीय मुद्रा में कहा, “दरअसल, बेटा, मेरे घर में तो कोई ‘सेबी’ भी नहीं । एक सीधी-सादी घरेलू आग्न थी । इसलिए नहीं जानता कि परेशानी क्या होती है । अच्छा किया बेटे तुमने बतना दिया ।

इतनी देर से प्रमोद किसी स्कूली लड़के की तरह मोर्चा देता—

आ खड़ा था। लेकिन इस व्यंग्य से, जैसे वह तिलमिला उठा। एक तो से ही दिन भर सोच-सोच कर परेशान हो गया था। बाबूजी की इस बात ने उसका हा-सहा संयम भी छीन लिया। चीख कर बोला, “आप कैसे जानेंगे कि परेशानी क्या होती है? आपने कभी जानने की कोशिश भी की है! हमसे पूछिए कि मां ने किन हालात में गृहस्थी की गाड़ी खींची है। आपके शोक पूरे करने के लिए उसने क्या कुछ नहीं सहा है! कितने-कितने त्योहार पुरानी साड़ियों में मना लिए हैं! कितनी सदियां एक इकलौते ऊनी स्वेटर में निकाल दी हैं! कितनी राखियों पर उन्होंने मँके जाने से इन्कार कर भाइयों को दरवाजे से लौटा दिया है! कितनी बार...”

लेकिन प्रमोद अपनी बात पूरी नहीं कर पाया। उसने देखा कि बाबूजी का चेहरा सफेद पड़ गया है, पैर कांपने लगे हैं। एकाएक उसका सारा आक्रोश ठण्डा पड़ गया। उन्हें सहारा देकर पास की आराम-कुर्सी पर बिठाते हुए उसने पूछा, “आपकी तबीयत तो ठीक है न!”

बाबूजी कुछ नहीं बोले। अपनी हथेलियों में मुँह छिपाए कुछ देर खामोश बैठे रहे। प्रमोद धीरे-धीरे उनके तलुए सहलाता रहा। इससे ज्यादा उसे कुछ सूझा ही नहीं!

एक लम्बे अन्तराल के बाद बाबूजी ने सिर उठाया और डूबती-सी आवाज़ में बोले, “मैं जानता हूँ बेटे कि मेरी गृहस्थी एक मामूली-से क्लर्क की गृहस्थी थी। पर तुम्हारी मां ने उसे राजा-रईसों की-सी शान दे दी थी। साक्षात् लक्ष्मी का रूप थी वह!

मुझे मालूम है कि उसके लिए रोज-रोज नई साड़ियां मैं नहीं जुटा सका। पर यह भी जानता हूँ कि घर आई हर वहन-बेटी नई चूनर के साथ ही विदा हुई है। अपनी जिन्दगी चाहे उसने एक ऊनी कपड़े में गुजार दी हो, पर तुम्हारे चाचा लोग शादी होने तक उसी के हाथ के स्वेटर पहनते रहे। घर में हम लोग चाहे जैसा खाते-पहनते रहे हों पर आने वाला मेहमान तृप्त होकर ही लौटा है... मुझ जैसे की गृहस्थी चलाना उसी के बस की बात थी। वह न होती तो पता नहीं क्या होता।”

बाबूजी ने एक दीर्घ निश्वास लिया और बोले, “वह न होती तो गृहस्त्री का इतना फैलाव ही क्यों होता ! लोग गृहिणी का मन देखकर ही देहरी चढ़ते हैं । नहीं तो क्या चाय होटलों में नहीं बिकती ?”

प्रमोद उत्तर में कुछ कहता इससे पहले ही जैसे उन्हें कुछ याद आ गया । बोले, “अच्छा सच बताना अभी जो तुम इतना सब-कुछ कह गए तो क्या उसने कभी तुमसे यह सब कहा था ? तुम्हें मरने वाली की कसम, सच-सच बताना !”

उनके स्वर की आर्द्रता से प्रमोद परेशान हो उठा । क्षणिक आवेश में कही गई उसकी बात इतने गहरे पैठ जाएगी उसने नहीं सोचा था ।

सान्त्वना में वह कोई अच्छी-सी बात कहना चाह रहा था कि गेट खड़का । उसने उचक कर देखा—मिथाजी के बड़े भाई साहब आ रहे थे । उसे लगा जैसे ये प्रीति के ताऊजी नहीं, साक्षात् भगवान हों ।

“बाबूजी, ताऊजी आ रहे हैं—मिथाजी के भाई साहब !” उसने बाबूजी का ध्यान घंटाते हुए कहा ।

सचमुच इन शब्दों ने जादू का-सा काम किया । पल भर में बाबूजी सहज हो आए । दूसरे ही क्षण वह फुर्ती से उठ खड़े हुए । पैरों में चप्पल सरकाते हुए उन्होंने खूंटो पर टंगा अपना कोट भी पहन लिया ।

ताऊजी अपनी डगमग चाल से जब तक कमरे में पहुंचते, बाबूजी तैयार होकर बाहर निकल आए और बोले, “बसिए मिथुरजी, जरा चौराहे तक हो जाएं । मेरे पान बिल्कुल चुक गए हैं ।”

और उन्हें ‘अवाउट-टर्न’ करवा कर सचमुच वे चल पड़े ।

प्रमोद ठगा-सा उन्हें जाते देखता रहा । करीने से सजी हुई देसी पान की डलिया उसका मुंह बिड़ाती रही !

## बोर

“वाँची” की कोई धुन सीटी पर निकालता हुआ प्रवीण दनादन सीढ़ियां चढ़ रहा था। घर लौटते हुए हजरत हमेशा टॉप मूड़ में होते हैं। ड्राइंगरूम में पैर रखते ही बेचारा ठिठक गया।

“नमस्ते आंटी” उसने सोफे पर बैठी हुई मिसेज नागराजन् से कहा और जल्दी से अपने कमरे की ओर मुड़ गया।

परंतु वहां भी एक नमूना उसके स्वागत के लिए तैयार था। मेरे कान अनायास ही उस ओर चले गये।

“नमस्ते अंकल !”

“कहिये प्रवीण जी, क्या हाल हैं ?”

“जी, बस ठीक हूं।”

और इसके बाद फुलस्टॉप। बस प्रवीण का जोर-जोर से दरारें खोलना और बंद करना सुनाई देता रहा।

“अब हम चलें। बच्चों के लिए चाय बनाइये।” मेरी अन्यमनस्कता को ताड़कर मिसेज नागराजन् ने उठने की तैयारी की।

“अरे नहीं, बैठिये आप। चाय-बाय तो बनती रहेगी।” मैंने औपचारिकता से कहा।

“नहीं, उधर हमारी बेबी भी आती होगी। अच्छा, आइए कभी” कहती वे उठ खड़ी हुई। मैंने छुटकारे की सांस ली।

मिसेज नागराजन् को विदा करके मैंने किचन की ओर रुख किया। नाश्ता बना हुआ था, चाय-भर बनानी थी। मेरे पीछे-पीछे प्रवीण किचन में आया। चेहरे पर बेजारी के चिन्ह स्पष्ट थे। बच्चे और बच्चों के

पिताजी, धाहर से चाहे जितने मिलनसार बनते रहें, पर घर आते ही कोई बैठा मिल जाये, तो उनका मूड ऑफ हो जाता है।

“ये महाशय कब से बैठे हैं? उसने माये पर बल डालते हुए पूछा।”

“तीन बजे आ गया था। मेरे पास तो मिसेज नागराजन् बैठी थी। सो मैंने तुम लोगों के कमरे में उसे बैठा दिया था।...अच्छा, चाय के लिए यहाँ गुला लूं या कमरे में से जाओगे?” मैंने पूछा।

“कहीं भी पिला दो, क्या फर्क पड़ता है। ये जग्गी चाचा अच्छी मुसीबत पीछे लगा गये हैं।” उसने झुंझलाकर कहा और मेरे हाथ से ड्रे लेकर चला गया।

सब तक नीतू भी स्कूल से आ गयी थी और सलामी का वही दौर शुरू हो गया था।

“नमस्ते अंकलजी!”

“नमस्ते। कहिए नीतूजी, तुम्हारे क्या हाल-चाल हैं?”

“जी, बस ठीक-ठाक है।”

और फिर चुप्पी। इतनी हंसी आयी मुझे, क्या बोर है यह गुप्ता भी! इससे आगे बोलना ही नहीं जानता। आकर घंटों बैठा रहेगा। कुरेद-कुरेदकर हम जितना पूछ लें, उतना ही जवाब देगा। फिर किसी मंगजीन में सिर झालकर बैठा रहेगा।

अक्सर वह दोपहर को ही आता है। इसलिए सबसे ज्यादा शामत मेरी आती है। इस तरह घर में कोई बैठा रहे, तो बेफिक्र होकर न तो लिखना-पढ़ना हो पाता है, न सिलाई-बुनाई। सोने का तो खैर प्रश्न ही नहीं उठता। बस आभने-सामने बैठे रहे। एक-एक घंटे में एक-एक वाक्य बोलते जाओ।

प्रवीण ठीक ही कहता है। जग्गी अच्छी बीमारी लगा गये हैं हमारे पीछे। पिछले साल किसी ट्रेनिंग के सिलसिले में भोपाल आये थे। जहाँ के साथ ये हज़रत पहली बार घर में दाखिल हुए थे। जगदीप तो पास हो-हुआ कर अपने घर लौट गये थे। पर उनका यह दोस्त अच्छी घासी अलामत बनकर हमसे जुड़कर रह गया है।

यो पर पर आने वालों की कमी नहीं है। सभी का आना गुरुगवार

## बोर

“वाँवी” की कोई धुन सीटी पर निकालता हुआ प्रवीण दनादन सीढ़ियां चढ़ रहा था। घर लौटते हुए हजरत हमेशा टॉप मूड़ में होते हैं। ड्राइंगरूम में पैर रखते ही बेचारा ठिठक गया।

“नमस्ते आंटी” उसने सोफे पर बैठी हुई मिसेज नागराजन् से कहा और जल्दी से अपने कमरे की ओर मुड़ गया।

परंतु वहां भी एक नमूना उसके स्वागत के लिए तैयार था। मेरे कान अनायास ही उस ओर चले गये।

“नमस्ते अंकल !”

“कहिये प्रवीण जी, क्या हाल हैं ?”

“जी, बस ठीक हूं।”

और इसके बाद फुलस्टाप। बस प्रवीण का जोर-जोर से दरारें खोलना और बंद करना सुनाई देता रहा।

“अब हम चलें। बच्चों के लिए चाय बनाइये।” मेरी अन्यमनस्कता को ताड़कर मिसेज नागराजन् ने उठने की तैयारी की।

“अरे नहीं, बैठिये आप। चाय-बाय तो बनती रहेगी।” मैंने औपचारिकता से कहा।

“नहीं, उधर हमारी बेबी भी आती होगी। अच्छा, आइए कभी” कहती वे उठ खड़ी हुईं। मैंने छुटकारे की सांस ली।

मिसेज नागराजन् को विदा करके मैंने किचन की ओर रुख किया। नाश्ता बना हुआ था, चाय-भर बनानी थी। मेरे पीछे-पीछे प्रवीण किचन में आया। चेहरे पर बेजारी के चिन्ह स्पष्ट थे। बच्चे और बच्चों के

पिताजी, बाहर से चाहे जितने मिलनसार बनते रहें, पर घर आते ही कोई बैठा मिल जाये, तो उनका मूड ऑफ हो जाता है।

“ये महाशय कब से बैठे हैं? उसने माथे पर बल डालते हुए पूछा।”

“तीन बजे आ गया था। मेरे पास तो मिसेज नागराजन् बैठी थीं। सो मैंने तुम लोगों के कमरे में उसे बैठा दिया था।” अच्छा, चाय के लिए यहीं बुला लूं या कमरे में ले जाओगे?” मैंने पूछा।

“कहीं भी पिला दो, क्या फर्क पड़ता है। ये जग्गी चाचा अच्छी मुमीबल पोछे लगा गये हैं।” उसने झुंझलाकर कहा और मेरे हाथ से ट्रे लेकर चला गया।

तब तक नीतू भी स्कूल से आ गयी थी और सलामी का वही दौर शुरू हो गया था।

“नमस्ते अंकलजी!”

“नमस्ते। कहिए नीतूजी, तुम्हारे क्या हाल-चाल हैं?”

“जी, बस ठीक-ठाक हैं।”

और फिर चुप्पी। इतनी हंसी आयी मुझे, क्या बोर है यह गुप्ता भी! इससे आगे बोलना ही नहीं जानता। आकर घंटों बैठा रहेगा। कुरेद-कुरेदकर हम जितना पूछ लें, उतना ही जवाब देगा। फिर किसी मैगजीन में सिर डालकर बैठा रहेगा।

अनसर वह दोपहर को ही आता है। इसलिए सबसे ज्यादा शामत मेरी आती है। इस तरह घर में कोई बैठा रहे, तो बेफिक्र होकर न तो लिखना-पढ़ना हो पाता है, न सिलाई-बुनाई। सोने का तो खैर प्रश्न ही नहीं उठता। बस आमने-सामने बैठे रहे। एक-एक घंटे में एक-एक वाक्य बोलते जाओ।

प्रवीण ठीक ही कहता है। जग्गी अच्छी बीमारी लगा गये हैं हमारे पीछे। पिछले साल किसी ट्रेनिंग के सिलसिले में भोपाल आये थे। जगदीप के साथ ये हजरत पहली बार घर में दाखिल हुए थे। जगदीप तो पाग हो-टुआ कर अपने घर लौट गये थे। पर उनका यह दोस्त अच्छी छासी अलामत बनकर हमसे जुड़कर रह गया है।

यों घर पर आने वालों की कमी नहीं है। सभी का आना खुशगवार



होता भी नहीं। मगर गुप्ता के पास तो जैसे अपना कोई व्यक्तित्व ही नहीं है। कई बार तो इतनी कोफ्त होती है। अरे भई, जब तुम्हारे पास कहने के लिए कुछ नहीं है, तो आते ही क्यों हो ?

नीतू कहती है—“घर न हुआ, पब्लिक लाइब्रेरी हो गयी। इससे तो अच्छा है, हम लोग इन्हें घर पर ही किताबें भेज दिया करें।” वच्चे खासकर ज्यादा चिढ़ते हैं: क्योंकि चाय-नाश्ते में कंपनी उन्हें ही देनी पड़ती है।

गाड़ी का परिचित हार्न सुनकर मैंने गैस पर नये सिरे से चाय का पानी चढ़ा दिया। मेज पर नाश्ता लगाती हुई मैं साहब बहादुर के अंदर आने का इंतजार करने लगी। वे अंदर आये और कुछ ही क्षणों में उनकी गरजदार आवाज में बधाइयों का एक शोर-सा फट पड़ा।

“इतनी गर्मजोशी से बधाई किसे दी जा रही है ? और किस बात की ?” मैंने बाहर आकर पूछा।

“अरे भई, अपने गुप्ताजी को स्टेट बैंक में एपाइंटमेंट मिल गया है। और तुम जानती हो, आजकल बैंक की नौकरियां स्वर्ग का राज्य हो गयी हैं।”

“कन्प्रेच्युलेशन्स, गुप्ताजी।” मैंने कहा—“लेकिन भई यह तो सरासर पक्षपात है। इतनी अच्छी खबर लेकर आप दो घंटे तक अपने भाई का इंतजार करते रहे। हम क्या इतने पराये थे ?”

“दरअसल आप कुछ विजी थीं भाभीजी, इसीलिए...” चेहरे पर ढेर सारी शर्म लेकर उसने कहा। वैसे उसने गलत नहीं कहा था। मैंने सचमुच उसे इग्नोर ही कर दिया था। वस, वच्चों का कमरा खोलकर ढेर-सी किताबें उसके सामने पटक दी थीं।

अपने अपराधी मन को कोसते हुए मैंने कहा, “खुशखबरी ऐसे थोड़े ही सुनायी जाती है। मिठाई खायेंगे हम तो।”

“क्यों तंग कर रही हो बेचारे को ! हम लोग बड़े हैं। गुप्ता की तरफ से मिठाई हम खिलायेंगे।” इन्होंने ऐलान किया।

“जी मिठाई तो मैं लेकर चला था,” उसने हकलाते हुए कहा और थैली में से मिठाइयों का एक बड़ा-सा पैकेट मेरे सामने कर दिया।

“अरे, मैं तो मजाक कर रही थी।”

“मैं यहाँ के लिए लाया था। बच्चों के लिए।” सकुचाता-सा वह बोला। अब मेरे लिए कोई चारा नहीं रहा।

“आश्रो गुप्ताजी, चाय पियेंगे।”

“भाई साहब, मैं पी चुका।”

“अरे एक कप हमारे साथ मही। क्या फर्क पड़ता है !”

यह भी हृद्देश का ही क्रम था। चाय की मेज पर हम तीनों ने फिर साथ ही चाय पी, नाश्ता किया। मिठाइयों का पीकेट भी खोल लिया था और ये मिठाइयों की भूरि-भूरि प्रशंसा किये जा रहे थे। मेरे मन में लेकिन एक ही बात बार-बार चुभती रही—इस कड़की के मौसम में यह खर्च इसे कितना मंहगा पड़ा होगा।

“तो क्या जॉइन कर रहे हो ?”

“मंगल को हाजिर होने के लिए कहा है। सोमवार को निकल जाऊंगा।”

“जाने से पहले हमारे यहां खाना खाकर जायेंगे।” मैंने कहा।

“भाभीजी, अक्सर ही तो आपके यहां खाता रहता हूं।”

“इस बार फेयरवेल समझ लो।”

वह लड़कियों की तरह झेंप गया।

“बहिए, आपको कब फुरसत होगी ? इतवार को आ सकेंगे ?”

“जब आप कहें।”

“तो फिर यात पयकी। इतवार की दोपहर को आप हमारे साथ जा रहे हैं।” वह सिर हिलाकर रह गया।

उसके जाते ही ये मुझ पर बरस पड़े—“हमारा संदे तबाह कर दिया तुमने। भला और किसी दिन नहीं बुला सकती थीं ?”

और दिन ही कौन-सा है ? कल हमारे नलब की भीटिंग है। परसों अहूजा के यहां रिसेप्शन है। शनिवार को पिक्चर के टिकट पहले से ही आ चुके हैं। कहें तो उन्हें कॅन्सिल करवा दूं !”

“किसी दिन दोपहर को बुला लेतीं !”

“मैं अकेली क्या सिर फोड़ूंगी उससे !” मैंने चिड़कर कहा।

वच्चे अलग नाराज़ थे । “मम्मी को बैठे-बिठाए क्या सूझ जाता है ।” नीतू भुन-भुना रही थी ।

“अरे वाह ! वह बेचारा ढेर-सी मिठाई लेकर आया और हम एक-बार उसे खाने पर भी न बुलाएं !”

“मगर इतवार को क्यों ?” प्रवीण का एक ही प्रश्न था । इतवार उसके लिए क्रिकेट-वार होता है । घर पर ठहरना उसके लिए सज़ा है ।

इतवार को भी ये रोज की तरह तैयार होने लगे, तो मैंने कहा—  
“जनाव भूल गए कि आज छुट्टी है ।”

“छुट्टी तो है, पर वह विधान सभा जो सिर पर आ रही है । टेबल पर फाइलों का ढेर छोड़ आया हूं ।”

“और वे जो बी-ओ-आर-ई आने वाले हैं...”

“कौन ? अच्छा गुप्ता की बात कर रही हो ! भई तुम लोग हो तो । मेरे न रहने से बल्कि जरा फ्रीडम रहेगी ।”

प्रवीण ग्राउंड के लिए खिसकने की तैयारी कर रहा था । परन्तु पापा की इस कर्तव्यपरायणता के कारण उसका मैच खटाई में पड़ गया । भुनभुनाते हुए ही उसने अपने दोस्तों को लौटाया ।

“बस यही कुछ बनाया है आज ?” खाना खाते हुए इन्होंने पूछा ।

“क्यों ? और क्या बनाना होता है ? दाल-चावल है, सब्जी-परांठे हैं, अचार-चटनी है । और क्या चाहिए ?”

“कमाल करती हो ! यों तो पता नहीं, रोज क्या अल्लम-गल्लम बनाया करती हो । आज उसे फेयरवेल दे रही हो तो कुछ भी नहीं ! सुनों, ऐसे अच्छा नहीं लगता । तुमसे न बने तो बाज़ार से ही कुछ मीठा मंगवा लो ।”

उनके जाने के बाद में दिमाग कुरेदती रही, सब्जी की टोकरी टटोलती रही । फिर प्रवीण से कहा—“बेटे, जरा दौड़कर बाज़ार से एक हीमा का पैकेट तो ला दे । गुलाबजामुन बना लूं जरा ।”

तो गुप्ता अंकल के ऑनर में गुलाबजामुन बन रहे हैं । नीतू ने चटखारे लेकर कहा ।

"यत ज्ञादा बाते मन बना । जरा आयु छीमने में हाथ बटा तो ।"  
मैंने एक हल्की-सी डांट पिलायी ।

घाना बनाने का मुझे तो जंग बुझार पड़ता है । मिनिटों में शिमाग में पूरा मेनू डाफ्ट हो जाता है । यों मुझे पटे-भर पहने रंगी हुई चीज याद नहीं रहती । पर यह जरूर याद रहता है कि छह महीने पहले अमुक मजदूर के लिए मैंने क्या-क्या बनाया था । कोई भी रिज रिपीट न हो, इसका मुझे घूब ध्यान रहता है । रेडियो से, पत्रिकाओं से, सहेलियों से व्यंजनों के थोड़े इकट्ठा करती रहती हूँ । घाने की मेज पर जब सारीकों के पुन बाँधे जाते हैं, तो मेरी मेहनत सफल हो जाती है ।

मुझा जब धारा, तो रंगोंई महक रही थी । और मेज हाँपों और हिनेन से घचाघच भरी हुई थी ।

"बिजनी तकनीक उठा रही है धाप भाभीजी । मैं तो पर का ही आदमी था ।" उनसे आते ही कहा । पर स्वागत का मरंजाम उगे पुनबित्त कर गया था, यह छिपा नहीं रहा ।

"अंकनजी ! अभी लगनऊ पहुँचे भी नहीं, मकसूक अभी मे गीष गए ।" नीतू ने चुटकी ली । वह गर्म में मान हो गया ।

आज घाना घाते हुए वह हमेशा की तरह गुमगुम नहीं रहा । बारी बोलता रहा, हँका-मुँका मझाक भी करता रहा । मौबरी मिलते ही उसके चेहरे पर थोड़ी साजगी आ गयी थी । बरहे भी जरा दग के पढ़ने था । अबीन ने पैट के करते की मारीक की, तो वह बारी घुम हो गया था ।

बोन्हर की दक्कों के साथ थोड़ी देर आज खेलकर वह जाने लगा, तो मैंने कहा—"आते रहियेगा ।"

"जह भी कोई कहने की बात है, भाभीजी ।"

"बहुत दूर जा रहे हैं आप ।"

"अबकी तो छुटने दते छुट में जाकर हमें झुल ही जाती ।"

अबीन ने लार बटाया ।

"डरे नहीं मैं," उसने अबीन को प्यार में पकड़कर हँस

"दफरे छानकों याद करे । कभी-कभार पत्र देते रहिए

शिष्टाचार और सौजन्य की मूर्ति बनी हुई थी। बातें अपने आप मुंह से फिसलती जा रही थीं—“नौकरी तो अच्छी मिली है, पर यही मलाल रहेगा कि बहुत दूर जा रहे हैं। अपनी हैलथ वगैरह का ध्यान रखिएगा।”

उसने मेरी ओर देखा। दिन-भर चेहरे पर छिटकी खुशी धुंधली पड़ गयी। भरपूर कंठ से बोला—“आप लोग इतना प्रेम रखते हैं, इसी से तो यहां आने की इच्छा होती है। और कहीं तो मैं जाता भी नहीं। रिश्तेदारों के यहां तो बिल्कुल भी नहीं।”

मैं चुप।

“बेकार लड़का और अनव्याही लड़की—दोनों का एक-सा हाल होता है। हर कोई उन्हें उपदेश देगा, आलोचना करेगा, मजाक बनाएगा। सीधे मुंह बात तो कोई करेगा ही नहीं। लेकिन मुझे यहां जो व्यवहार मिला वह इतना अलग था...” भावावेग के कारण उससे बोला नहीं गया।

मैं सन्न रह गयी। यह घुन्ना लड़का मन में इतना दर्द संजोए है, किसने सोचा था !

“अच्छा चलूं भाभाजी, कहते हुए उसने झुककर मेरे पांव छू लिए और एकदम दरवाजे से बाहर हो गया।

बड़ी देर बाद शर्म से झुके सिर उठाकर हमने एक दूसरे की ओर देखा। सबकी आंखें भर आयी थीं...

और वे आंसू नकली नहीं थे।

